निवेदन

द्वापर के चित्रण के लिए जिस विशाल पट की आवश्यकता है, उसकी पूर्ति इन परिमित पृष्ठों से क्या हो सकती है। परन्तु जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गई है वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्प पूर्ण रही। क्या जानें, इसी कारण से यह नाम आ गया अथवा अन्य किसी कारण से। यह भी द्वापर—सन्देह की ही बात है।

श्रीमद्भागवत् के दशमस्कन्ध के तेईसवें अध्याय में एक कथा है। श्रीकृष्ण अपनी मंडली के साथ वन में दूर निकल गये थे। वहाँ उनके बन्धुओं को भूख लगी। निकट ही एक स्थान पर यज्ञ हो रहा था। उन्होंने भोजन की प्राप्ति के लिए, उन्हें वहाँ भेजा। परन्तु याज्ञिक ब्राह्मणों ने उन्हें इनकार किया। भगवान् ने फिर भी उन्हें यज्ञशाला में भेजा। परन्तु इस बार पुरुषों के नहीं, स्त्रियों के निकट। वहाँ उनकी अभिलाषा पूरी हो गई। स्त्रियों ने विविध व्यंजन लाकर भगवान् को भी भोग अर्पण किया। इसी कथा के अन्तर्गत एक कथा और है। एक ही श्लोक में वह कह दी गई है। एक ब्राह्मण

ने बलपूर्वक अपनी वनिता को रोक लिया। नैवेद्य समर्पण तो दूर, वह भगवान् के दर्शन भी न पा सकी। इस दुःख से उसने शरीर छोड़ दिया। शुकदेवजी ने लिखा है—

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथा श्रुतम्
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्।

इस सम्बन्ध में इतना ही है। खेद है, इस 'विधृता' का नाम नहीं मिला। अतएव, इसके सम्बन्ध की रचना का यही शीर्षक देना पड़ा।

इसी घटना के अनन्तर इन्द्र-यज्ञ छोड़कर गोवर्द्धन-यज्ञ की कथा आती है और बलराम का भाषण इसीकी भूमिका के रूप में है। इसमें सन्देह नहीं, यज्ञों की तत्कालीन परिपाटी से श्रीकृष्ण सन्तुष्ट न थे। परन्तु पशुबलि के विरोध में ही 'अन्नकूट' खड़ा किया गया है या नहीं, यह विद्वानों के विचार का विषय है। लेखक की भावना स्वतन्त्र हो कर भी निराधार नहीं, उसे स्वयं भगवान का बल प्राप्त है—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"

चिरगाँव
देवशयनी ११-१९९३

चतुर्थावृत्ति की भूमिका

'द्वापर' का आरम्भ 'सुदामा' को लेकर हुआ था। परन्तु पुस्तक में उसे इस कारण नहीं दिया गया था कि लिखते लिखते उसे तीन खण्डों में समाप्त करने का विचार किया गया था। पहला खण्ड 'गोपाल' दूसरा 'द्वारकाधीश' और तीसरा 'योगिराज'। परन्तु अनेक कारणों से अब तक कुछ न हो सका। आगे भी कोई बड़ी आशा नहीं। अस्तु इस बार पुस्तक के अन्त में यह आरम्भ का अंश भी जोड़ दिया गया है।

आशा न होने पर भी लेखक को असन्तोष नहीं। जो कार्य उससे न हो सकेगा, प्रभु चाहेंगे तो वह दूसरे कुशल कृतियों द्वारा और भी अच्छे रूप में सम्पन्न होगा।

चिरगाँव

लेखक

संवत्सर २००३

सूची

श्रीगणेशायनमः

द्वापर

(गोपाल)

मंगलाचरण

धनुर्वाण या वेणु लो श्याम-रूप के संग,
मुझ पर चढ़ने से रहा राम ! दूसरा रंग।

श्रीकृष्ण

राम-भजन कर पाञ्चजन्य! तू,
वेणु बजा लूँ आज अरे,
जो सुनना चाहे सो सुन ले,
स्वर ये मेरे भाव भरे—
कोई हो, सब धर्म छोड़ तू
आ, बस मेरा शरण धरे,
डर मत, कौन पाप वह, जिससे
मेरे हाथों तू न तरे?

राधा

शरण एक तेरे मैं आई,
धरे यहाँ सब धर्म हरे!
बजा तनिक तू अपनी मुरली,
नाचें मेरे मर्म हरे!
नहीं चाहती मैं विनिमय में
उन वचनों का वर्म हरे!
तुमको—एक तुम्हीं को—अर्पित
राधा के सब कर्म हरे!

यह वृन्दावन, यह वंशीवट,
यह यमुना का तीर हरे!
यह तरते ताराम्बर वाला
नीला निर्मल नीर हरे!
यह शशिरञ्जितसितघन-व्यञ्जित,
परिचित, त्रिविध समीर हरे!
बस, यह तेरा अङ्क और यह
मेरा रंक शरीर हरे!
कैसे तुष्ट करेगी तुझको,
नहीं राधिका बुधा हरे!
पर कुछ भी हो, नहीं कहेगी
तेरी मुग्धा मुधा हरे!
मेरे तृप्त प्रेम से तेरी
बुझ न सकेगी क्षुधा हरे!
निज पथ धरे चला जाना तू,
अलं मुझे सुधि-सुधा हरे!

सब सह लूँगी—रो रो कर मैं,
देना मुझे न बोध हरे!
इतनी ही विनती है तुमसे,
इतना ही अनुरोध हरे!
क्या मानापमान करती हूँ,
कर न बैठना क्रोध हरे!
भूले तेरा ध्यान राधिका,
तो लेना तू शोध हरे!

चूम, यह वाम कपोल चूम ले
यह दक्षिण अवतंस हरे!
मेरा लोक आज इस लय में
हो जावे विध्वंस हरे!
रहा सहारा इस अन्धी का
बस यह उन्नत अंस हरे!
मग्न अथाह प्रेम-सागर में
मेरा मानस-हंस हरे!

यशोदा

मेरे भीतर तू बैठा है,
बाहर तेरी माया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
मेरे पति कितने उदार हैं,
गद्गद हूँ यह कहते—
रानी-सी रखते हैं मुझको,
स्वयं सचिव-से रहते।
इच्छा कर, झिड़कियाँ परस्पर
हम दोनों हैं सहते,
थपकी-से हैं अहा! थपेड़े,
प्रेमसिन्धु में बहते।

पूर्णकाम मैं, बनी रहे बस
तेरी छत्रच्छाया ;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

जियें बाल - गोपाल हमारा,
वह कोई अवतारी ;
नित्य नये उसके चरित्र हैं,
निर्भय विस्मयकारी।

पड़े उपद्रव की भी उसके
कच-दिसके पर बारी,
उलटी पड़ती आप, उलहना
लाती है जो नारी।

उतर किसी नभ का मृगांक-सा
इस आँगन में आया ;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

गायक बन बैठा वह, मुझसे
रोता कण्ठ मिला के;
उसे सुलाती थी हाथों पर
जब मैं हिला हिला के।
जीने का फल पा जाती हूँ
प्रतिदिन उसे खिला के;
मरना तो पा गई पूतना,
उसको दूध पिला के!
मन की समझ गया वह समझो,
जब तिरछा मुसकाया!
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
खाये बिना मार भी मेरी
वह भूखा रहता है!
कुछ ऊधम करके तटस्थ-सा
मौन भाव गहता है।

वह कहता है—'तात, कहाँ-कब
मैंने खट्टा खाया ?'
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
मेरे श्याम-सलौने की है,
मधु से मीठी बोली,
कुटिल अलक वाले की आकृति
है क्या भोली-भोली !
मृग-से दृग हैं, किन्तु अनी-सी
तीक्ष्ण दृष्टि अनमोली,
बड़ी कौन-सी बात न उसने
सूक्ष्म बुद्धि पर तोली ?
जन्म जन्म का विद्या-बल है
संग संग वह लाया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

उसका लोकोत्तर साहस सुन,
प्राण सूख जाता है;
किन्तु उसी क्षण उसके यश का
नूतन रस पाता है।
अपनों पर उपराग देख कर
वह आगे आता है;
उलझ नाग से, सुलझ आग से,
विजय - भाग लाता है।
'धन्य कन्हैया, तेरी मैया!'
आज यही रव छाया,
तेरा दिया दान, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
काली-दह में तू क्यों कूदा,
टोका तो हँस बोला—
'तू कहती थी—'और पुराना
कुछ मक्खन का गोला।

छींके पर रख छोड़ेंगी सब
अब भिड़-भरा मठोला !'
निकल उड़ीं वे भिड़ें प्रथम ही ;
भाग बचा मैं भोला !"
बलि जाऊँ ! वंचक ने उलटा
मुझको दोष लगाया ;
तेरा दिया राम, सब पावें ,
जैसा मैंने पाया ।
उसे व्यापती है तो केवल
यही एक भव - बाधा—
"कह दूँगी खेलेगी तेरे
संग न मेरी राधा ।
भूल जायगा नाच-कूद सब ,
धरी रहेगी धा-धा ।
हुआ तनिक उसका मुहँ भारी
और रहा तू आधा !"

अर्थ बताती है राधा ही,
मुरली ने क्या गाया ;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया ।

बना रहे वृन्दावन मेरा,
क्या है नगर-नगर में !
मेरा सुरपुर बना हुआ है
ब्रज की डगर-डगर में ।

प्रकट सभी कुछ नटनागर की
जगती जगर-मगर में :
कालिन्दी की लहर बसी है
क्या अब अगर-तगर में ।

चाँदी की चाँदनी, धूप में
जातरूप लहराया :
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया ।

अहा ! घास में भी सुवास है ,
भूमि हरी जब मेरी ;
गायों-भरा गोठ, गायें हैं
दूध - भरी सब मेरी ।
बनी गिरस्ती क्षीरोदधि की
पूर्ण तरी अब मेरी ;
मैं तेरी चेरी, पर पटतर
कौन नरी कब मेरी ?
गर्व नहीं, यह कृतज्ञता है ,
मैंने जिसे जनाया ;
तेरा दिया, राम, सब पावें ,
जैसा मैंने पाया ।
बाहर मैं जन-मान्य और धन-
धान्य - पूर्ण घर मेरा ;
पाया है, तब देने को भी
प्रस्तुत है कर मेरा ।

लहराता है गहरा गहरा
यह मानस-सर मेरा;
वही मराल बना है इसमें,
जो इन्दीवर मेरा।
मुक्ति शुक्ति-सी पली युक्ति से,
भुक्ति-भोग मन-भाया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

विधृता

राम राम ! हा ! ठहरो, ठहरो ,
यह तुम क्या करते हो ?
अबला कह कर भी मुझको यों
बलपूर्वक धरते हो !
लज्जा भी छोड़ी क्या तुमने ,
छोड़ी जहाँ दया है ?
तन न जाय, पर मन तो मेरा
अपनी गैल गया है।
लोहित नेत्र, फड़कते नथुनें ,
विकृत वदन, खर वाणी ;—
नारायण ! मेरे नर में है
कौन नया ग्रह प्राणी !

रौद्र नहीं, बीभत्स अशुचि यह ,
जाओ अरे, नहाओ !
यह शरीर अब कहाँ जायगा ,
शुद्धि-शान्ति तुम पाओ ।

पर सुनते जाओ, सम्भवतः
फिर अवसर न रहेगा ;
तुम सुनना भी चाहोगे तो
तुमसे कौन कहेगा ?

मैं मर चुकी, किन्तु मरते ही
ठंडी नहीं पड़ी हूँ ;
तुमसे दो बातें करने को ,
क्षण भर यहाँ खड़ी हूँ ।

हम तुम पति-पत्नी थे दोनों ,
दीक्षित इस अम्बर में ;
पर मेरा पत्नीत्व मिटाया
किसने यह पल भर में ?

मुट्ठी भर भी जो न दे सके,
दासी थी, मैं आहा!
यज्ञ भङ्ग हो गया तुम्हारा,
मेरा सब कुछ स्वाहा!
वह गुण किसने तोड़ा, जिसमें
यह जोड़ा जकड़ा था?
नर, झकझोर डालने को ही
क्या, यह कर पकड़ा था?
कामुक-चाटुकारिता ही थी
क्या वह गिरा तुम्हारी?—
('एक नहीं, दो दो मात्राएँ
नर से भारी नारी!')
अहा! 'यत्र नार्यस्तु'-वाक्य की
पूर्ण सत्यता पाकर,
क्यों न रमेंगे अमर तुम्हारे
इस अध्वर में आकर!

विधृता

हा अबला ! आ, अरी अनादर-
अविश्वास की मारी ;
मर तो सकती है अभागिनी ,
पर न सके कुछ नारी ।

जहाँ 'दीयतां' तथा 'भुज्यतां'
मुख्य यही दो बातें ,
जहाँ अतिथि हों आप देवता ,
आज यही वे घातें !

भूले जावें वहाँ से वे ही
जो अब भी बालक हैं
किन्तु हमारी परम्परा के
प्रश्रय हैं, पालक है

धर्म तुम्हारे पर आया था ,
अपने कर फैला
पर भूखे ने मरन गमाया ;
फिर भी धक्के

अब तुम किसको साध रहे हो,
चला गया है वह तो;
पाप कर रही थी क्या कोई,
कहो, सुनूँ मैं यह तो ?
अधिकारों के दुरुपयोग का
कौन कहाँ अधिकारी ?
कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या
अर्द्धांगिनी तुम्हारी ?
मैं पुण्यार्थ जा रही थी, तुम
पाप देख बैठे हा !
और आप अवसर के वर को
शाप लेख बैठे हा !
जिनमें पशु-वध करते करते
सूखा हृदय तुम्हारा,
वे मख मिटें, और हे ईश्वर,
इन्हीं बालकों - द्वारा !

स्वयं स्वर्ग-फल वाली भी उस
लोलुपता का लय हो ;
कर्म हमारा क्षमता-मय हो ,
धर्म सुममतामय हो ।
किया कटता नहीं पाप भी ,
जब तक रहे अधूरा ;
हो निषिद्ध भी सांग सिद्ध वह
यज्ञ तुम्हारा पूरा !
नाचें - गावें सुरांगनाएँ ,
आवें, इन्द्र पधारें ;
मेरे आश्रय तो उपेन्द्र ही ,
तारें और न तारें !
रतियों की उन सुन्दरियों के
प्रति अतल्लीन रहो तुम ,
फिर भी योगिन्द्र-रोगी हारे ,
क्यों न तल्लीन रहो तुम ?

मैं भूखों को भोजन देने
जाकर भी दुःशीला ;
ललना तो छलना है, ओ हो ,
धन्य तुम्हारी लीला ।
हाय ! बधू ने क्या वर-विषयक
एक वासना पाई ?
नहीं और कोई क्या उसका
पिता, पुत्र या भाई ?
नर के बाँटे क्या नारी की
नग्न - मूर्ति ही आई ?
माँ, बेटी या बहिन हाय ! क्या
संग नहीं वह लाई ?
श्याम-सलौने पर यदि सचमुच
मेरा मन ललचाया ,
तो फिर क्या होता है इससे ,
कहीं रहे यह काया ?

विधृता

दूर मधुप को भी पराग निज
पहुँचा दिया कुसुम ने ;
हे चेदश, खेद ! इतना भी
भेद न जाना तुमने ।

'छैल-छोकड़ा' कहो उसे तुम,
प्रेम-वाद्य वह बजता ;
जो जैसे भजता है उसको,
वह भी वैसे भजता ।

अथवा तुम्हें दोष क्या, युग ही
वह 'द्वापर' संशय था,
पर यदि अपना ध्यान रहे हैं ;
तो कारण क्या भय था ?

हुए वत्स-धेनुक-वध के वे
गो-घातक हत्यारे ?
तुम शुचि, पशु-बलि पर ही जिनके
समतन्तु हैं सारे ?

वत्स न था वह, बाघ और वह
धेनुक था खर-दानव ;
लोक-यज्ञ में ऐसी बलि दे ,
हो तो ऐसा मानव ।
रहे लोक की व्यथा, वेद की
कथा कहो मुहँ धोकर ;
किन्तु स्वर्ग का मार्ग गया है
इसी नरक से होकर !
कौन आततायी अवध्य है ,
यह तो मुझे बताओ ?
शक्ति चाहिए किन्तु वहाँ, तुम
साहस यहाँ जताओ ।
हाँ, हाँ, गाली दो तुम उसको ,
भला और क्या दोगे ?
निन्दक सही, परन्तु अन्ततः
तुम उसके ही होगे ।

'वेद उसीको तो गाते हैं ?'
धिक् वक्रोक्ति तुम्हारी,
नहीं, वेद तो खोज उसीको
रोते हैं बलिहारी।

तुम्हें वेद में नहीं मिला वह ?
तुम हो वेदज्ञानी;
किन्तु वेद का अन्त कहाँ है,
ध्यान धरो कुछ ध्यानी।

कुछ छन्दों तक ही परिमित क्या
उस अनन्त की वाणी ?
नित्य नित्य नूतन भावों में
भूषित वह कल्याणी।

नित्य नई अपनी रचनाएँ
रचता है वह स्रष्टा :
देश-देश में, काल-काल में,
हैं मन्त्रों के द्रष्टा।

कृष्ण अवैदिक ? और राम भी ?
ठहरो, धीरज धारो,
वेदवादरत, ठंढे जी से
सोचो और विचारो।
श्रुति-दर्शी ऋषि न थे हमारे
दम्भी या अभिमानी,
घोषित आप उन्होंने की थी
नेति - नेति की वाणी।
और न्यून वाल्मीकि-व्यास किस
ऋचा-रचयिता ऋषि से ?—
युग युग भी परितृप्त रहेंगे
जिनकी अक्षय कृति से।
पाप शान्त हो ! भला राम ने
सीता को कब त्यागा ?
इसे यथार्थ मानता है जो,
वह है अज्ञ-अभागा।

राम-नाम के नृप को छल कर,
सुहृदय - सीतावर का,
घर लुटवाने में भी कर था
किसी तुम्हीं से नर का।
राम-कृष्ण का रूप कहाँ से
देखे दृष्टि तुम्हारी;
इन्द्र-वरुण तक ही परिमित है
यह श्रुति-सृष्टि तुम्हारी।
फिर भी यही कहे जाती हूँ,
मानो या मत मानो;
नीरस छान्दस, उस कवि-धन को
जान सको तो जानो।
आगे - पीछे क्या देखोगे,
सम्मुख नहीं निरखते;
तुम मोहान्ध न हो जाते यों
कुछ विवेक यदि रखते।

कर्मकाण्ड के इन भाण्डों में
वह रस कहाँ धरा है,
अविश्वास जब हाय! तुम्हारे
घट में आप भरा है।

अविश्वास, हा! अविश्वास ही,
नारी के प्रति नर का;
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं,
स्वामी है वह घर का!

उपजा किन्तु अविश्वासी नर
हाय! तुझीसे नारी!
जाया होकर जननी भी है,
तू ही पाप - पिटारी।

आती नहीं अलख की लीला,
कभी किसीकी लख में;
अपमानित सती भी तो थी
मरी एक दिन मख में।

डरो न द्विज दयनीय, रुद्र का
गण न यहाँ आवेगा ;
वे हर भी जो विष न पी सके,
यह हरि पी जावेगा ।
जाती हूँ, जाती हूँ अब मैं,
और नहीं रुक सकती ;
इस अन्याय-समक्ष, मरूँ मैं,
कभी नहीं झुक सकती ।
किन्तु आर्य-नारी तेरा है
केवल एक ठिकाना ;
चल तू वहीं, जहाँ जाकर फिर
नहीं लौटकर आना ।

बलराम

उलटा लेट कुहनियों के बल,
धरे वेणु पर ठोड़ी,
कनू कुञ्ज में आज अकेला,
चिन्ता में है थोड़ी।
सुबल, विशाल, अंशु, ओजस्वी,
वृषभ, वरूथप, आओ;
यमुना-तट, वट-तले बैठ कर
कुछ मेरी सुन जाओ।

खेल-कूद में ही न अरे, हम
सब अवसर खो देंगे ;
भावी जीवन के विचार भी
कुछ निश्चित कर लेंगे ।
रखते हो तो दिखलाओ कुछ
आभा उगते तारे ;
ओज, तेज, साहस के दुर्लभ
दिन हैं यही हमारे ।
जावेंगे अवश्य हम अपने
प्रिय पितरों के पथ से ;
किन्तु पंक तो नहीं फँसेंगे ;
पूछेंगे निज रथ से ।
अपरिष्कृत संकीर्ण कहीं वह
मार्ग न होने पावे ;
थल से जल में, जल से नभ में
विस्तृत होता जावे ।

नहीं देखते थे क्या पूर्वज
कहाँ काल-गति कैसी ?
होगी जहाँ अवस्था जैसी ,
वहाँ व्यवस्था वैसी ।
कहीं गतानुगतिकता पर ही
रह सकता उद्योगी ?
नये नये गीतों की रचना
उन्हीं स्वरों पर होगी ।
पितर नहीं खाते थे खट्टा ,
खावें हम भी मीठा ;
किन्तु बुसा-बासी खाने से ,
अच्छा टटका सीठा ।
और शर्करा से मोदक ही
बनते नहीं अकेले ;
एक स्वादु के भेद असंख्यक ,
सिद्ध करे सो ले ले ।

मुनियों को भी भ्रमसम्भव है,
असम्मान क्या इसमें ?
किन्तु एक भ्रम ऐसा भी है
सर्वनाश है जिसमें।
जहाँ सर्प की भ्रान्ति रज्जु में,
वहाँ विनोद-वरण है;
किन्तु सर्प को रज्जु समझना,
यह प्रत्यक्ष मरण है!
बन्धन - कर्षणार्थ पुरखों ने
हलको सार दिया है;
किन्तु साथ ही साथ उन्होंने
उसका भार दिया है।
जितना उसे स्वच्छ रक्खोगे,
उतनी धार चढ़ेगी,
और नहीं तो धूल-धार ही
अपने हाथ रहेगी।

भूमि पूर्वजों की है निश्चय ,
कर्षण किन्तु तुम्हारा ;
इसीलिए तो था यथार्थ में
उन सबका श्रम सारा ।
होंगे वे कृतकृत्य तभी तो ,
तुम सपूत जब होगे ;
नित्य नये फल-फूलों वाली
हरियाली भर दोगे ।
मिला हमें उपवन पुरखों का,
यह सौभाग्य हमारा ;
फल ही लेंगे या देंगे भी
हम श्रम-जल को धारा ?
सिंचन, रोपण, काट-छाँट से
हाथ सिकोड़ेंगे हम ,
झाड़ और झंखाड़ छोड़ कर
तो क्या छोड़ेंगे हम ?

जीर्ण वस्तुओं की ममता ने
घर ही घूरा होगा ;
अहा ! आज का कुसुम-हार भी
कल का कूड़ा होगा ।
यदि मानस-गोमुखी हमारी
निरवधि नहीं झड़ेगी ,
तो गर्त्तों में ही जीवन की
धारा पड़ी सड़ेगी ।
एक समय जो ग्राह्य, दूसरे
समय त्याज्य होता है ;
ऊष्मा में हिम के कम्बल का
भार कौन ढोता है ?
मलय रूपिणी पुरवैया-सी
खिड़की में आती है ,
और सील-सी लोकालय में
रूढ़ि पैठ जाती है !

रँग के छींटे भी सुन्दर हैं,
पर होली के दिन के,
वही रात में दीवाली की
धब्बे हैं गिन गिन के।
बन जाता है अशिव भयंकर
कभी स्वयं शंकर भी;
दुर्दिन कर देता है दिन को
असमय का जलधर भी।
रहे व्यक्तियों की मर्यादा,
नहीं शक्ति की सीमा;
वेग रहे तो क्यों न बढ़ो तुम;
पड़ जाऊँ मैं धीमा।
पुरखे नदियाँ तरते थे तो
तब हे सिन्धु तरो तुम;
अस्वाभाविक क्या यदि ऐसा
साहस कभी करो तुम?

पूर्वज थे पा गये वस्तुतः
मूल-तत्त्व मन-माना ;
किन्तु असंख्यक शाखाओं का
है कुछ ठीक-ठिकाना ?
नित्य नई ये फूट रही हैं ,
आगे भी फूटेंगी ,
भावी सन्ततियाँ भी सन्तत
अभिनव रस लूटेंगी ।
यदि हार्दिक प्रस्ताव बुद्धि का
अनुमोदन पा जावे ,
और समर्पक करें प्राण, तो
कौन विरोधी ? आवे !
जीने में तो मरने में भी
है कल्याण स्वयं ही ,
लौटो न तुम प्रमाण खोजने ,
बनो प्रमाण स्वयं ही ।

पीछे पितर पृष्ठ - पोषक हैं ,
पर भविष्य तो आगे ;
यदि अपना परिणाम न देखें ,
तो हम अन्ध-अभागे ।
वर्त्तमान, यह आयोजन है
निज भावी जीवन का ;
कुछ अतीत-संकेत मिले तो
अधिक लाभ वह जन का ।
भिन्नाहार-विहार उचित ही
समय समय के सारे ;
समय समय की बुद्धि भिन्न है ,
भिन्न विचार हमारे ।
समयाचार विभिन्न, भिन्न हैं
युग-धर्मों की धृतियाँ ,
आकृति-प्रकृति विभिन्न समय की ,
भिन्न क्यों न हों कृतियाँ ?

अपने युग को हीन समझना,
आत्महीनता होगी;
सजग रहो, इससे दुर्बलता
और दीनता होगी।

जिस युग में हम हुए, वही तो
अपने लिए बड़ा है;
अहा! हमारे आगे कितना
कर्मक्षेत्र पड़ा है

हीन हो गया काल कौन सा?
क्या घन-मन्द्र नहीं अब?
सायंप्रात, रात-दिन, ऋतुएँ
वा रवि-चन्द्र नहीं अब?

सावधान! युग के अधर्म का
हम युग-धर्म न समझें;
कर्म नहीं, हम पतित आप, यदि
उसका मर्म न समझें।

वह अतीत पुरखों का युग था ,
उसका क्या कहना है ?
सुनो, किन्तु अपने ही युग में ,
हम सबको रहना है ।

जन्में हैं हम उसी भूमि पर
उसी वायु-मण्डल में ;
पर आगे की ओर हमारी
वृद्धि-सिद्धि पल पल में ।

विगत हुआ तो विगतों का युग ,
अपना तो प्रस्तुत है ;
कितना नव्य-भव्य तुम देखो ,
यह अपूर्व - अद्भुत है ।

नये नये अध्याय खुले हैं ,
नये पाठ हैं कितने ;
कैसे काट-छाँट के कौशल ,
और ठाठ हैं कितने ।

बड़ा गोप-पद से क्या, तुम क्यों
'गोप गोप' कहते हो ?
ऐसे ही तो ऋषि रहते हैं
जैसे तुम रहते हो।

मनुष्यत्व जन में ही रहता,
नहीं विशाल भवन में ;
वह भी क्या दुर्लभ है तुमको,
जो तुम चाहो मन में।

पुरखों के प्रतिरूप आप हम
सम में और विषम में :
अधिष्ठातृ देवों के प्रति भी
कृतज्ञता हो हममें।

किन्तु कर्म-कौशल से यदि हम
अपना मुँह मोड़ेंगे,
वरुण देव तो हमें घटाये
बिना नहीं छोड़ेंगे !

वन्धु, कहीं यह कह न बठना—
'हाला पिये हली है !'
सुनो तात, मतवाले की भी ,
यदि वह बात भली है ।
भय क्या सुरा पिये हो कोई ,
उसे सुरा न पिये हो ,
तो शुभ वह उस असुरापी से ,
जो निज दम्भ किये हो ।
न हो एक उन्माद, एक धुन ,
एक लगन यदि जन में ,
तो उस अप्रमत्त को लेकर
है क्या लाभ भुवन में ?
देख रहा है, समझ रहा है ,
किन्तु नहीं कुछ करता ,
कर्मभूमि का भाररूप वह
डूब क्यों नहीं मरता ।

तुम मेरे अनुगामी, यह तो
मुझ पर प्यार तुम्हारा ;
पर विरोध करने का पहले
है अधिकार तुम्हारा ।
सोचो - समझो, मेरी बातें
और उचित यदि मानो ,
तो फिर तुम इनके प्रचार का
भार आप पर जानो ।
(कर्मों की खेती है जगती ,
जैसी जिसने बोई :
देवों का भी कर्म नियन्ता
एक और ही कोई ।
ताप न हो तो अग्नि-देव की
फिर क्या रही महत्ता ?
वे न होमियों के हितार्थ भी
छोड़ेंगे निज सत्ता ?

(जो देवों का भाग, उसे हम
सादर उनको देंगे;
और ले सकेंगे जो उनसे,
हम कृतज्ञ हो लेंगे।
फिर भी दैवी बाधाएँ तो
आती ही रहती हैं;
मिल जुल कर सम्पूर्ण प्रजाएँ
जिन्हें यहाँ सहती हैं।)
सह सकना ही तो सर्वोपरि,
इष्ट और क्या भाई?
व्यापक विपदा से ही हमने
संघ - सम्पदा पाई।
बीती तृणावर्त्त की आँधी,
दावानल भी बीती;
कौन कहे, अब नहीं आयगी
कोई धार अबीती?

अपने मरने - जीने को भी
नियति - दृष्टि से देखें,
तो निश्चय हम उसे प्राकृतिक
परिवर्त्तन ही लेखें।
जहाँ आज गिरि कल गभीर जल;
यह भी उसकी लीला ;
नित्य नई तब तो निज जगती,
जब परिवर्त्तन - शीला।
इन्द्र वृष्टि के अधिकारी हैं,
तो भागी हैं हम भी ;
किन्तु शून्य को ही ताकें तो
जड़ हैं हम, अक्षम भी।
अस्तु अन्ततः उर्वी का ही,
निश्चित कर्षण जिसका :
एक विभाजन मात्र व्योम का,
पर आकर्षण किसका ?

अन्तरिक्ष के नहीं, किन्तु हम
उस वसुधा के वासी ,
जिसके सरस-गन्ध-गुण के हैं
आप अमर आश्वासी !

धात्री वह गो-रूप-धारिणी ,
शस्य-शालिनी, धरिणी ;
लोक-पालिनी वह भव भव की
भार - वाहिनी, भरणी ।

सर्वंसहा, क्षमा - क्षमता की ,
ममता की, वह प्रतिमा ।
खुली गोद उसकी जो आवे ,
समता की वह प्रतिमा ।

हल ही आयुध रहे हली का ,
काटे उसके काँटे ;
हरी - भरी उर्वरा रहे वह
तृण - तृण के भी बाँटे ।

अपने ब्रज की रज में ही तुम
सब विभूतियाँ पाओ ;
दूध पियो अपनी गायों का ,
वीर-बली बन जाओ ।
एक एक, सौ सौ अन्यायी
कंसों को ललकारो ;
अपनी पुण्यभूमि के ऊपर
धन-जीवन सब वारो ।
यही हमारी प्रमुख देवता ,
कभी न भूलो इसको ;
कहो दूसरा देव कौन है ,
आहुति दें हम जिसको ?
नहीं एक आकाश-निवासी
यह अधिदैवतपन तो ;
कंकर में भी शिव-शंकर हैं ,
गिरि है गोवर्द्धन तो ।

पुरखे यज्ञ - याग करते थे,
त्याग भाव था जिनमें;
किन्तु आज के यज्ञ देख लो,
शेप रहा क्या इनमें ?
दारुण हिंसा और दम्भ ही
दिखलाई पड़ते हैं;
तृष्णा बुझती नहीं, रुधिर के
झरने-से झड़ते हैं।
अपनी प्रवृत्तियों का पोपण
मिप देवी - देवों का।
अमृत नहीं, वह मृतक-पिण्ड है
विप देवी - देवों का।
राजस भोग करें वे, जिनका
साहस हो या वस हो;
धर्म सदा सात्विक है, चाहे
कर्म कभी तामस हो।

ब्राह्मण था या वृक वह, जिसने
दया न लज्जा सोची,
हृदयवर्ती गृहिणी हरिणी-सी
धर कर वहीं दबोची!
यही अभागा मन्त्र-जाल में
स्वर्ग फँसा कर लेगा?
वैतरणी का चक्र-नक्र क्या
इसे उबरने देगा?
इष्ट एक हय-मेध-हेतु था
व्यापक विजय जहाँ पर,
एक यूप से बँधे पड़े हैं
सौ पशु-मेध वहाँ पर!
स्वयं शृगाल हुए हम, फिर भी
उच्च मनुज-कुलमानी;
यज्ञ-पुरुष को छोड़ हिंस्र-पशु
पूज रहे बलिदानी!

यज्ञ - वेदियाँ हैं वे अथवा
कौटिक-कुटियाँ सारी ?
व्यञ्जन नहीं, देव देखेंगे
श्रद्धा - भक्ति तुम्हारी ।
कम क्या घृत-दधि-दुग्ध-शर्करा,
देव-अन्न ओदन ही;
श्रुति न विरोध करे तो समझो
उसका अनुमोदन ही ।
जिसको जब जो प्राप्य, उसीका
वह नैवेद्य चढ़ावे;
निज रसना-लोलुपता कोई
इस मिस से न बढ़ावे ।
नहीं तत्वतः कुछ भी मेरे
आगे जीना - मरना,
किन्तु आत्मघाती होना है
घात किसीका करना ।

बलराम

गो-द्विज-द्वेषी वंश मूल ही
मख का मेट रहा है;
मैं कहता हूँ, स्वयं काल को
यह अब भेंट रहा है।

आज 'गोप हम' यही गर्व से
तुमको कहना होगा;
और आत्मबलि देने को भी
उद्यत रहना होगा।

न्याय-धर्म के लिए लड़ो तुम,
ऋत-हित समझो-बूझो,
अनय राज, निर्दय समाज से
निर्भय होकर जूझो।

राजा स्वयं नियोज्य तुम्हारा,
यदि तुम अटल प्रजा हो;
धात्री नहीं, किन्तु बलिदात्री
बस अन्यथा अजा हो!

प्रस्तुत रहो, कृष्ण नूतन मख
रचने ही वाला है;
अब निर्मम विद्रोह मोह पर
मचने ही वाला है;

रही चुनौती आज हमारी,
अधिक क्या कहूँ, यम को;
नई सृष्टि के लिए प्रलय भी
प्रेक्षणीय हो हमको!

ग्वाल-बाल

अरे, पलट दी है काया ही
इस केशव ने काल की ;
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की ।
अति कर दी अच्युत ने आह ।
भर दी गति-मति और ही ;
कर लेता है ठीक ठिकाना
वह चाहे जिस ठौर ही ।
नागर-नटवर होकर भी वह
इन सबका सिरमौर ही ;

हम हाथी-घोड़े हैं उसके ;
यमुना उसकी पालकी।
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।

हम मृग, वह मद, किन्तु अमर हैं
हम उसके सम्बन्ध से ;
भागे भय के कीट आप ही
उस गुण-धर-के गन्ध से।
गिरे असुर आ आकर कितने
द्रोह-मोह-वश अन्ध-से ;

तुलना हो सकती है उसकी
छाती से किस ढाल की ?
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरिधारी-गोपाल की।

मुरली है अपूर्व असि उसकी ,
विजयी है वह प्रेम का ;
वह गोधन का धनी, हाथ है
उस उदार का हेम का ।
शिखि-शेखर को ध्यान सदा है,
सबके योग-क्षेम का ;
राधा चित्त, श्यामता हरि की
है उसके विधु-भाल की ।
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरधारी-गोपाल की ।

खेल उसीका, वही खिलाड़ी
और खिलौना भी वही ;
खेलें उसके संग सदा हम,
इष्ट हमें बस है यही ।
हार-जीत का निर्णय राधा
करती रहे सही-सही ;

चिन्ता करे बलाय हमारी
जगती के जंजाल की !
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरधारी-गोपाल की ।

चोरों की है या विनोद के
धनियों की यह मंडली ?
घर का भद्र जहाँ भेदी है,
वहाँ किसीकी क्या चली ।
चढ़ जाने में कुशल और हम
कूद भागने में बली ;

रस की तो है भली लूट भी,
सो भी ऊँची डाल की !
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरधारी-गोपाल की

उस दिन वहाँ हमें न मिला कुछ,
यज्ञ हो रहा था जहाँ;
द्विज न पसीजे, द्विजस्त्रियाँ ही
बनीं अन्नपूर्णा वहाँ।
(माँ की जाति किसी बच्चे को
भूखा देख सकी कहाँ?)
भेजा उनके निकट, सूझ थी
यह किस बुद्धिविशाल की?
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरधारी-गोपाल की।

हाय! एक द्विज ने दानव बन
निज देवी को धर लिया;
बना चाण्डाल रूप धारण कर
कुछ न हमें देने दिया!
गिरी मराली, किन्तु मरण ने
उसको अमर ही किया;

भागी हिंसा और भीति वह
स्वयं इन्द्र के जाल की।
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरधारी-गोपाल की।

उठा लिया सचमुच पहाड़ ही
गौरवमय गोविन्द ने;
फूला इन्द्र और उसका रस
पिया मुकुन्द-मिलिन्द ने।
झलकाये कुछ कण हिम-से घस
उसके मुख-अरविन्द ने;

गोवर्द्धन की दरियाँ थीं या
पुरियाँ वे पाताल की?
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरधारी-गोपाल की।

इतना करके भी बस हँस कर
यही कहा बलवीर ने—
'राधा जो न भरे नयनों में,
प्रलय किया था नीर ने।'
किन्तु पुलक ही दी राधा के
कोमल कुसुम-शरीर ने;
फिर भी तिरछी होकर उसने
भृकुटी कुटिल-कराल की।
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरधारी-गोपाल की।

यह मगरमच्छ मत्स्य न था, जो
चला बकासुर लीलने;
अघ-अजगर से हमें बचाया
इसी अलौकिक शील ने।
विष ही झाड़ दिया कालिय का
सहृदय सदय सलील ने;

आग पिये था, इस पानी से
हुई शान्ति ही ज्वाल की !
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरधारी-गोपाल की !

यमुना बहा ले गई, पानी
उतर गया सुरराज का ;
अन्त प्रलय का भी है आहा !
और वही दिन आज का ।
हरियाली ही हरियाली है,
जय नव जन्म समाज का ;

अब फिर बजे चैन की वंशी
उस माई के लाल की !
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरधारी-गोपाल की ।

निर्मल - नीलाकाश हासमय
चमके चन्द्र-विकास में ;
दमके कल-जल, गमके थल-थल
कोमल कुसुम-सुवास में ।
लय से बँधा अराल-काल भी ।
डूबे रासोल्लास में ;

घूमें भूमण्डल भी गति से
सन भर कर स्वर-ताल को ।
बलिहारी, बलिहारी, जय जय
गिरधारी-गोपाल को ।

नारद

हरिःओ३म्, पर इसके आगे?
शान्ति? नहीं हो, शान्ति नहीं।
शान्ति अन्त में आप आयगी,
व्यर्थ जन्म, जो क्रान्ति नहीं।

लोक एक नाटक है प्रभु का,
शोक रहे या हर्ष रहे,
जिसमें अपना स्वाँग सफल हो,
यहाँ एक संघर्ष रहे।

वह तो एक धूलि-कण में भी,
कहते हैं अस्तित्व जिसे;
शुष्क पत्र-सा उड़ते जाना,
जीना कहते नहीं इसे।

जीवन में भी जब जीवन हो ,
तब सजीवता है जन की ;
नहीं प्रवाह मात्र में गति है ,
उठें तरंगे भी मन की ।

(अपने प्रभु का कान लगा जन ,
विदित विनोद-विशारद मैं ;
पुत्रों से निश्चिन्त सदा को ,
पितर-जनों का नारद मैं ।

वृद्ध पिता का सुस्थिर यौवन ,
नहीं नहीं, चिर शैशव मैं ;
चिर चंचल, क्रीडा-कौतुकमय ,
और नित्य ही नव नव मैं ।

वादी-संवादी स्वर लेकर ,
वीणा सभी बजाते हैं ;
पर प्रतिवादी स्वर भी मेरी
वीणा में बज जाते हैं ।

विना विवादी के विनोद क्या ,
बस प्रयोग सर्वत्र बड़ा ;
बने भैरवी भी मृदु-मधुरा ,
मेरा माध्यम रहे कड़ा ।

एक पुरुष को छोड़, प्रकृति की
परवशता सबमें हेरी ;
चोरी न करे चोर, किन्तु क्या
छोड़ेगा हेरा - फेरी ?

मुझे प्रणाम करे तो वह भी
शुभाशीष मुझसे पावे ;
पर यह अच्छा नहीं, धनाधिप
जो सोता ही रह जावे ।

आह्लादों के साथ भले ही
आवे क्यों न विषाद कहीं ,
मेरे इस यमुना-कुटुम्ब में
आ न जाय अवसाद कहीं ।

कौशल दिखला सकते हैं हम
कठिनाई में पड़ कर ही ;
बने विजेता और बड़े, सो
बाधाओं से लड़ कर ही ।

जिसमें पापी के पापों का
घट झट से भट भर जावे ;
पृथ्वी और स्वयं पापी भी
परित्राण झट पट पावे ।

कर देता हूँ यथाशक्ति कुछ
योग उपस्थित मैं ऐसे ;
पर हूँ अन्तर्दयादृष्टि से
देखा अनदेखा कैसे ?

बिगड़े का सुधार करने से
बढ़ कर कोई कार्य नहीं ;
क्या वाल्मीकि-समान व्यक्ति का
नारद ही आचार्य नहीं ?

किन्तु उसे उपदेश व्यर्थ है,
जो विनाश से बाध्य हुआ;
तूर्ण मरण ही मंगल उसका,
जिसका रोग असाध्य हुआ।

अरे, आग भी कभी लगानी
पड़ जाती है हमें यहाँ;
कूड़ा-कर्कट ही न अन्यथा
भर जावे फिर जहाँ-तहाँ।

आग लगा कर हमीं दौड़ते
पानी की झाड़ी को भी,
फटा खेत जलता जलता जो
जला न दे बाड़ी को भी।

पानी है तो बरसेगा ही,
है जो आग, लगेगी ही;
जो समीर है सरसेगा ही,
है जो ज्योति, जगेगी ही।

सीमा का वह द्वन्द अहा हा !
इस असीम के ही नीचे ;
नारद तो निर्द्वन्द जायगा ,
पर क्या ये आँखें मींचे ?

देख रहा हूँ चाल काल की ,
मैं क्यों उसमें आप फँसूँ ?
भीतर से रोना आता है ,
बाहर से ही क्यों न हँसूँ ?

वह अलक्ष, जिसके हँसने में
कोई रोना छिपा न हो ;
हास मूल, परिहास फूल, उप-
हास धूल, भूलो न अहो !

जीवन खेल नहीं, अथवा यदि
जीवन खेल नहीं तो फिर ?
किन्तु खेल में भी तुलना का
मिले न मेल कहीं तो फिर ?

नाथ, कंस के हाथ उसी दिन
यदि मैं मारी जाती ;
यह मरने से अधिक आपदा
तो तुम पर क्यों आती ?

दासी के पीछे दुख पर दुख
सहना पड़ा तुम्हें है ;
पुनरपि रुद्ध गुहा-से गृह में
रहना पड़ा तुम्हें है।

पर क्या ही विश्वासी हो तुम,
जो अब भी आनन्दी ;
हे मेरे राजा, तथापि तुम
यहाँ अराजक बन्दी।

बन्दी जो जीवित रह कर भी
जीवन में वंचित है ;
धन से, जन से और स्वयं जो
निज मन से वंचित है।

प्रखर चेतना, आह! आग-सी
 जिसमें जाग रही है;
फिर भी जड़ीभूत लक्कड़-सा
 जकड़ा पड़ा, वही है।

उसका घर, घिर जाय वायु भी
 यदि उसमें घुस जावे,
टकरा कर पाषाण-भित्ति से
 वही साँस फिर आवे।

तब भी कहाँ कहाँ मन उसका
 फिरता मारा-मारा,
किन्तु अन्त में इस तापस की
 वही कुटी वह कारा।

सूर्य-चन्द्र की झलक इसीसे
 हमें दिखाई जाती,
है,—पर उसके लिए नहीं वे,
 देखे वह अभिगाती।

अभिघाती, सच्चा या झूठा
दोष लगा है उस पर,
इसीलिए भय और साथ ही
रोष जगा है उस पर।

उसे मारना या मर मिटना,
क्षण क्षण सूझ रहा है;
तो भी तिल तिल मरता है वह,
क्षण क्षण जूझ रहा है।

उसके स्वजन बन्धु भी बाहर
बँधे बँधे रह पाते;
खबरें सुनते हैं, पर अपनी
नहीं कहीं कह पाते।

आँखें और कान रहते वह
नहीं देख-सुन सकता;
बोल नहीं सकता मुँह रहते,
मन-मन गुन-गुन सकता।

बिछड़ा ही वह नहीं वर्ग से,
 मृग-सा जाल-जड़ित है;
नहीं तड़प भी पाता, यद्यपि
 भीतर भरा तड़ित है।

कैसे, कहीं छूट कर जावे,
 आया है वह पकड़ा;
श्वास हृदय से, हृदय देह से,
 देह निगड़ से जकड़ा।

आगे कटु पथ, असिधारा,
 प्रहरी, परिखा गहरी;
किन्तु अन्त में निकल जायगा
 वह मौजी, वह लहरी।

जब पुकार होगी अदृश्य से—
 अरे निकल आ, आ जा;
कौन उसे जाने को तब
 रोक सकेगा राजा?

राजा ! प्रभो, यही राजा है
तेरा प्रतिनिधि ? धिक्-धिक् !
क्या इस राजा और प्रजा का
वही एक विधि ? धिक्-धिक् !

धिक् तुझको, तेरे राजा को,
यह है स्वेच्छाचारी ;
अविचारी, अन्यायी, बर्बर,
केवल पशुबल - धारी ।

हाहाकार हमारा है सो
उसका बजता बाजा ;
आगे है तो मेरा और तू,
कहो न मेरा राजा ?

बोल सकें तो बता, इसीने
मेरी सत्ता पाई ?
सुन पावें तो सब लोकों की
सुन तू दुहाई-दुहाई ।

धिक् निरीह-निर्गुणता तेरी।
अरे, धधक उठ, भक हो;
तू समर्थ-साकार, देख कर
वह मदान्ध भौंचक हो।

अरी भूमि, तू आज कहाँ है,
नहीं जानती यह मैं;
मूक न रह, ले मेरी वाणी,
बोल उठूँ क्या कह मैं?

कहाँ गया है राम, आज वह
तेरा राज्य, अरे रे!
मरे—न, मारे गये अरे! वे
है, है बच्चे मेरे!

बच्चे मेरे—मेरे बच्चे,
बोलूँ मैं क्या है - है,
मेरा मन तो गिनता है
एक, दो,—नहीं, है - है!

ओ हो, मृदुल मुकुल से भी वे
मसल दिये इस खल ने ;
मांसपिण्ड, मक्खन के लौंदे
निगल लिये इस खल ने !

उनमें क्या था ? श्वास मात्र ही
था बस आता - जाता ;
ललित तन्त्र-सा, चलित यन्त्र-सा
फलित मन्त्र-सा भाता ।

किन्तु क्या न था उन बच्चों में ?
रूप - रङ्ग थे रूरे ,
जीवन अङ्कुरित, हृदय विस्फुरित ,
अंग अंकुरित पूरे ।

दृष्टि डाल जनने वालों को ,
हनने वालों को भी ,
देखा नहीं उन्होंने पल भर ,
वे हों चाहे जो भी ।

दिखा गये वे तो बस अपनी
एक झलक ही हलकी;
प्रेम-वैर दोनों की सीमा
इतने ही में छलकी।

निष्फल मेरा प्रेम हो गया,
वैर फला वैरी का;
मेरा कुछ न चला, क्या चलता,
हाथ चला वैरी का।

पर उनके अपराध बता दे
कोई झूठे-सच्चे?
दोष यही उन निर्दोषों का—
वे थे मेरे बच्चे।

मेरे बच्चे, जैसे आये
चले गये वैसे ही,
क्यों आये, क्यों गये अरे, वे
ऐसे के ऐसे ही?

न तो यहाँ देखा न सुना कुछ ,
    न कुछ कहा निज मुख से ,
रहे अपरिचित ही अनीह वे
    इस भव के सुख-दुख से !

हा भगवन् ! हो गई व्यर्थ वह
    प्रसव - वेदना सारी ;
लेकर यह अनुभूति-चेतना
    कहाँ रहे यह नारी ?

उड़ता है छै टूक कलेजा ,
    कर हैं मेरे दो ही ;
किसे किसे थामूँ, तू ही कह ,
    हे मेरे निर्मोही !

मेरे बच्चे, भूमि भार थे ?
    और कंस गौरव है ?
तब तो इस धरती से अच्छा
    लाखगुना रौरव है ।

ऐसे मीठे थे मेरे फल,
कंस खा गया कच्चे।
कौन कहे, कैसे क्या होते,
बच कर मेरे बच्चे?

किन्तु नहीं, वे नहीं गये, ये
अब भी यहीं बने हैं,
जाते कैसे कहीं, अन्ततः
मेरे ही न जने हैं।

इस अँधियारे में दीपक-से
ये क्या दमक रहे हैं?
मुझे निरखते हुए नेत्र ये
कैसे चमक रहे हैं!

अब तो बड़े हो गये आहा!
आओ मेरे हीरे!
किन्तु तुम्हारे तात सो रहे,
उतरो धीरे धीरे।

मेरे षण्मुख-कार्त्तिकेय, तुम
मुझे घेर कर घूमो ;
आओ, अब तो तुम्हें चूम लूँ
और मुझे तुम चूमो।
पर अब भी बन्धन में हूँ मैं,
विवश, देख लो, बेटा ;
और कंस उच्छृङ्खल अब भी
सुख-शय्या पर लेटा।
जाओ मेरे पूत-प्रेत, तुम
प्रथम उसे लग जाओ,
सुख से सो न सके वह देखो,
'हूँ' कर उसे जगाओ।
अरे, तनिक ठहरो, ठहरो तुम
अब भी छोटे छोटे ;
इधर कंस के भाव हुए हैं
पहले से भी खोटे।

लो, मरवाया तुम्हें दुबारा
हा ! माँ होकर मैंने ;
फिर भी खोया, पाया था यह
तुमको खोकर मैंने ।
यह कारा, यह अन्धकार, यह
बन्धन, सभी सहूँगी ;
भूल गई, वह बात भूल कर
अब मैं नहीं कहूँगी ।
स्वामी ! स्वामी ! उठो, हाय क्या
मैंने सपना देखा ?
जगी-बुझी अपने प्रकाश की
अभी है बुझी रेखा !
चौंको मत, पागल हूँ ? कैसे ?
मुझको सभी स्मरण है ;
भूला उनका जन्म मुझे या
भूला मुझे मरण है ?

वे तो चले गये, पर उनका
घातक अब भी बैठा ;
चलो, दिखा दूँ, पुण्य गये, पर
पातक अब भी बैठा !

हाँ, हाँ, धर लो, मुझे अंक में
भर लो मेरे भोगी !
योगी हो तुम, संयोगी भी
और तुम्हीं उद्योगी।

इसी कोख से जनती जाऊँ
उन्हें निरन्तर तब लौं,
ध्वंस न कर दें कंस-राज्य वे
मेरे जाये जब लौं।

अथवा नहीं ठहर सकती मैं,
मास दूर, नौ दिन भी ;
पड़े नहीं क्या मेरे मत्थे
कुग्रह कुटिल, कठिन भी ?

देवकी

देखो, वही भाल यह मेरा,
अब यह क्या फूटेगा ?
छोड़ो, छोड़ो, द्वार-पटल यह
अभी अभी टूटेगा !
क्या कहते हो, जना जा चुका
कंस - काल वह काला ?
काला, अहा ! वही तो मेरे
अन्तर का उजियाला ।
घन-सा काला, जाग रही है
जिसमें विद्युज्ज्वाला ;
वह लीलामय मेरा लाला,
हाँ, वह मेरा लाला ।
सुदृढ़-भित्ति पर जब गवाक्ष से
आभा आ पड़ती है,
देखा करती हूँ मैं, उसकी
झाँई - सी गड़ती है !

उग्रसेन

रानी,—नहीं नहीं, हम-तुम क्या
अब राजा - रानी हैं ?
झूठे पद स्वीकार करें वे
जो मिथ्या मानी हैं।

किन्तु प्रजा भी उसकी कैसे
हम अपने को मानें,
संगिनि, हम दोनों अब क्या हैं
यह ईश्वर ही जानें।

फिर भी रहें पिता-माता हम,
सुत न रहे सुत चाहे;
वह भूला, हम भी भूलें तो
किसको कौन निबाहे ?

रहने दो आक्रोश आज यह,
ओह ! काल को देखो,
अब भी वह अपना है, अपने
मोह-जाल को देखो।
धरा स्वयं दोनों ने उसको,
तुम क्या दोष धरोगी ?
शान्ति-पाठ ही करो, व्यर्थ क्यों
उस पर रोष करोगी।
आज वही दयनीय वस्तुतः,
अक्षम चाहे हम हों,
यह यदि निर्मम हुआ, कहो तो
क्या हम भी निर्मम हों ?
न दो इसे अभिशाप, अन्ततः
तुमने जिसे जना है;
स्वत्व मात्र लेकर ही तो वह
राजा आज बना है।

योग्य वयस्क व्यक्ति की थाती
कोई उसे न देवे,
तो उसका अधिकार, उसे वह
बलपूर्वक ले लेवे।

उसका राज्य सौंप कर उसको
यदि हम वन को जाते;
तुम्हीं विचारो, तो हम क्यों इस
कारागृह में आते?

लोभ वस्तुतः रहा हमारा,
क्षोभ वृथा हम मानें,
न ये कहाँ बैठें सोचो, यदि
हटें न यहाँ पुराने?

बात वस्तुतः है इतनी ही,
कहता मेरा जी है—
उसने आतुरता, तो हमने
दीर्घसूत्रता की है

जहाँ उपेक्षा हुई काल की
    वहाँ अकाल न हो क्यों ?
पल पल की तुम कुशल मनाओ ,
    मनुज कहीं, न रहो क्यों ?
ओहो ! दैत्य जना है तुमने ?
    तुम यह क्या कहते हो ?
सुध करके फिर व्यर्थ प्रसव की
    पीड़ा क्यों सहते हो ?
दैत्य-पिता होना भी अपना
    मैं सहर्ष सह लेता—
आज वही प्रह्लाद पुत्र हो
    लोक उसे कह देता !
सच पूछो तो ऐसा अद्भुत
    अपना यह मानव हो ,
कभी देव बन जाता है जो
    और कभी दानव हो ।

मैं कहता हूँ, यदि मनुष्य ही
बने मनुष्य हमारा,
तो फट जाय देव-दैत्यों का
कलह-कलुष यह सारा।

होते ही मर गया क्यों न वह!
अरे, उसे जीने दो;
अवसर दो, अवसर दो हे हर!
हरे! उसे जीने दो।

अद्भुत बली, विचित्र साहसी,
हुआ न होगा ऐसा;
जैसा करना उचित, करे यदि
एक बार वह वैसा।

पापी भी न मरे, मर कर वह
हाय! कहाँ जावेगा?
उलटा नया जन्म ले ले कर
लौट यहीं आवेगा।

तभी हमारा त्राण, मुक्ति जब
स्वयं उसे मिल जावे;
यही मनाओ, पंक-पंक में
एक पद्म खिल जावे।
भुजबल का ही विश्वासी वह,
सत्ता का साधक है;
पर शिवहीन शक्ति का साधन
बाधक ही बाधक है।
दुष्कर करने में ही इसकी
बुद्धि गर्व करती है;
नग्नशक्ति शिव के ऊपर ही
उन्मद पद धरती है।
दुर्लभ है निश्चय वह, उसमें
सहज सूरता जैसी;
फिर भी एकाकिनी सूरता
हाय! क्रूरता जैसी।

विफल वीरता किसी वीर की ,
यदि वह धीर नहीं है ;
कीच मचेगी उस पानी में ,
जो गम्भीर नहीं है ।

उसकी निन्दा करें भले ही
पीछे निर्बल नर भी ,
रह सकता है किन्तु उपेक्षा
करके क्या ईश्वर भी ?

अपने लिए अन्त में इतना
गर्व उसे निश्चय है ,
किन्तु हृदय में यही सोच कर
मुझको भय–अति भय–है ।

क्षमा करे उसको न तत्समा
वहिन देवकी दीना ,
पर माँ होकर हो सकती हो
तुम क्या ममता-हीना ?

देख मुझे बन्धन में, तुमसे
रहा नहीं यदि जाता;
तो क्या उसका पिता नहीं मैं,
तुम ज्यों उसकी माता?
कारागृह में हैं हम दोनों,
गिनो लाभ ही इसको,
और नहीं तो बाहर रह कर
मुँह दिखलाते किसको?
कुछ सुन पड़ता नहीं हमें अब,
कोई क्या कहता है;
यह सुविधा भी सहज किसी को
दैव कहाँ सहता है?
सहें भले ही हम यह बन्धन-
पीड़ा - क्रीड़ा - दायक,
किन्तु सहेगा इसे कहाँ तक
अपना शुचि-विधायक।

मुझे दीखता है, फिर हमको
बाहर जाना होगा,
उठे जहाँ तक, इस जीवन का
भार उठाना होगा।

वास शान्त-एकान्त हमारा,
समय मनन-चिन्तन का,
मंगल इससे अधिक और क्या
अब मुझ जैसे जन का?

तदपि हाय! औचित्य-हीन यह,
यही दुःख है मन में;
विधि से जो सद्धर्म, अविधि से
वही कुकर्म भुवन में।

तुम्हें क्रोध आता है रह रह,
किन्तु मुझे तो रोना,
और दैव हँसता है उस पर,
अब किससे क्या होना?

भय देकर ही कोई भव में
यदि चिर जय पा सकता,
तो नय और विनय की किसको
होती आवश्यकता।
जला जा रहा आप काठ-सा
अग्निरूप - धारी वह;
भस्म मात्र ही होने को है
उद्धत अविचारी वह।
यदि वह भस्म रमा कर कोई
कहीं साधु बन पाता,
तो विभूति कह कर उसको भी
मैं कृतार्थ हो जाता!
ओ सत्ता-मदमय! आज भी
आँखें खोल अभागे!
वह सत्तामद-स्वप्न जाने दे,
जाग, सत्य वह आगे।

जो आतंक दिखाया तूने,
देख उसीको अब तू;
और टूटने को प्रस्तुत रह,
लच न सके हाँ, जब तू।

कंस

नियति कौन है? एक नियन्ता
मैं ही अपना आप;
कर्म-भीरुओं का आकुंचन,
एक मात्र यह पाप।
धर्म एक, बस अग्नि-धर्म है,
जो आवे सो छार।
जल भी उड़े वाष्प बन बन,
मल भी हो अंगार।

फूँक-फूँक कर पैर धरोगे
धरती पर तुम मूढ़?
तो फिर हटो, भाड़ में जाओ,
पाओ निज गति गूढ़।
मैं निश्चिन्त बढ़ूँगा आगे,
पहने पादत्राण;
बचें कीट-कंटक, यदि उनको
प्रिय हैं अपने प्राण।
बनता नहीं ईंट-गारे से
यह साम्राज्य विशाल;
सुनो, चुने जाते हैं इसमें
रुधिराप्लुत कंकाल।
लिखो भले इसकी भीतों पर
दया-धर्म के चित्र;
सदा भुलाते रहें जनों को
जिनके चटुल चरित्र।

जो आतंक दिखाया तूने ,
　　　　देख उसीको अब तू ;
और टूटने को प्रस्तुत रह ,
　　　　लच न सके हाँ, जब तू ।

कंस

नियति कौन है ? एक नियन्ता
　　　　मैं ही अपना आप ;
कर्म - शक्तियों का आकुंचन ,
　　　　एक मात्र यह पाप ।
धर्म एक, बस अग्नि-धर्म है ,
　　　　जो आवे सो क्षार ।
जल भी उड़े बाष्प बन बन ,
　　　　मल भी हो अंगार ।

देख कहीं दो बूँद नेत्र-जल
तुम गल गये तुरन्त ;
जान लिया तो बस मिट्टी के
पुतले ही तुम सन्त !

ठौर अंक में पा सकती है
कोई मृदुता-मूर्ति ;
किन्तु हृदय में एक कठिनता
कर्मठता की पूर्ति ।

जितने भी बन्धन हैं, वे सब
अबलों के ही अर्थ ;
बन्धन बन्धन ही हैं, तोड़ो ,
यदि तुम सबल समर्थ ।

ठहर ब्रह्मवादी, बकता है ,
तू क्या अब्राह्मण्य ?
तेरा ब्रह्म और तू दोनों
मेरे निकट नगण्य ।

अटल एक ही न्याय जगत में ,
यह है मत्स्यन्याय ;
और एक ही असमर्थों को
है बस मरण उपाय ।

चुप रह, भावि बुद्ध के बच्चे !
ले तू अपनी चाट ;
नागर बन कर भी क्या तूने
छोड़ी वन की चाट ?

मैं हूँ अहंभाव - विश्वासी ,
परब्रह्म है कौन ?
नर ही नारायण है, नर मैं ,
सुनो इसे सब मौन ।

भाग्यवान भगवान आप मैं ,
सब हों मेरे भक्त ;
नियम मानते हैं अशक्त ही ,
रक्खें उन्हें सशक्त ।

बाधक और वृद्ध हो तुम तो
पड़े रहो चुपचाप;
रहो भले ही फिर तुम मेरे
बहनोई या बाप!

अरी देवकी, क्यों फिरती है
मेरे आगे दीन?
राजा का आत्मीय कौन है,
जो है आज्ञाधीन।

श्रीफल फोड़ फोड़ कर कितने
बलि देते हैं लोग;
शुद्ध शिशुओं के सिर की बलि दे
साधो मैंने योग।

मैं शिशुपाल नहीं, सोने से,
मढ़े जिनके गात;
जरासन्ध का जामाता मैं,
वह सेनापति साथ।

जैसे फल वैसे ही फिर भी
फाड़ सके सो धार ;
पुण्य-पाप क्या है, पौरुष ही
एक मात्र है सार ।

रोया करें क्यों न किन्नर-कवि
पढ़ कर मुझे नृशंस ;
किन्तु अपौरुषेय क्या उनका ,
यदि अमानुषिक कंस ?

तुम विद्वान कहो तो कोई
क्यों न करेगा , घात ?
दिखला दी वसुदेव-देवकी
दोनों ने यह बात ।

सुनी दशा जब जब दुर्दमता ,
हट दुर्दमते, दूर ;
कंस कहाँ है, कहे कहे ही
कोई उनसे शूर ।

फिर भी इसे मानता हूँ मैं,
भय का नाम परोक्ष;
वे शिशु फिर न जियें, पाकर भी
मेरे हाथों मोक्ष।

वे मेरे देवे, पर ओ हो।
उनकी आकृति आज!
धूमकेतु में पलट गया क्या
वह नक्षत्र - समाज!

सर्प-रूप धर छिन्न केंचुए
करते हैं फुङ्कार;
अथवा ये झंझा के झोंके
भरते हैं हुङ्कार,

दीप-शिखा घर बुझी अचानक,
यह कैसा उत्पात?
क्या सचमुच मैं सिहर उठा हूँ,
यह लज्जा की बात।

आवे, आवे, जो चाहे सो
दिखलावे निज नाच;
बैठा हूँ मैं आप तिमिर में
बन कर प्रेत-पिशाच।

जाओ बच्चो, तुम अनन्त में
विचरो, यही विवेक;
देखूँ उसको, जो तुममें से
बच निकला है एक।

सुना, किशोर मात्र है शैशव,
सम्मुख नहीं परन्तु;
तभी जान पड़ता है मुझको
एक बड़ा सा जन्तु।

छिः, फिर भी क्या चौंक गया मैं,
टूटा पड़ा किरीट!
अच्छा देखूँ क्यों न जला कर
कैसा है यह कीट।

यह घन गरजा, हाँ, समुचित है
इसका तर्जन - नाद,
सचमुच मैं कर गया उपेक्षा,
मुझसे हुआ प्रमाद।

और इसीसे वासुदेव बच
बड़ा हो गया आज;
भीति न जगती हो, पर मुझको
लगती है यह लाज।

धर बैठा वह मोरमुकुट भी,
शासन - दण्ड सुवेणु;
नारद का कहना है—'मेरी
वीणा है बस रेणु।'

कहते हैं, कुछ चमत्कार भी
दिखलाता है कृष्ण,
उसका मरणामृत पीने को
मैं भी आज सतृष्ण।

धड़कन नहीं, चला है मेरे
भीतर एक प्रवाह;
यह क्या, यह क्या चमकी चपला—
अम्बर की असि आह!

भित्ति-चित्र भी चलते-से क्या
बीत गये क्षण काल?
द्वापर ही द्वापर है मेरे
चारों ओर अराल।

अरे, कौन है? खुला शीघ्र ही,
आये वह अक्रूर;
वह दे, बाहर जाना होगा,
पर थोड़ी ही दूर।

भ्रम हो, भय हो, अभ्यन्तर हो,
संशय, अनृत, यथार्थं,
जो भी हो, आ जायें खुलकर,
देखें फिर पुरुषार्थं।

अक्रूर

नहीं मनोरथ के कुरंग ही,
रथ-तुरंग भी भटके;
पर मरीचिका में लटके या
इस मधुवन में अटके?

आ पहुँचा वृन्दावन यह मैं,
क्या ही पुण्य-प्रभा है;
धाम यही यमुना रानी का;
मथुरा राज-सभा है।

श्याम समाया कालिन्दी में,
या उसमें कालिन्दी?—
वेला ने जिसके माथे पर
दी सेंदुर की बिन्दी।

कौन कर रहा है वह कलकल,
डाल उसे हलचल में ?
यौवन-शिशु ही मचल रहा है
चंचल - जल - अंचल में ।

बँधी-बँधी थी, मुक्ति पा गई
दृष्टि हरे प्रान्तर में ;
अन्तर में एकान्त भाव भर
आता है पल भर में ।

उस एकान्त भाव के भी ये
शान्ति-कुंज सुस्फुट हैं ;
सजल कान्ति के नील-कमल-से
बाँधे युग-सम्पुट हैं ।

अहा ! अकृत्रिम सुख-साधु-गति
मनमानी - मदमाती ;
नहीं सहज में, अनुभव में ही
ईश्वर - सी है आती !

मैं तो आज कृतार्थ हो गया ,
नई पुलक यह पाके ;
भूमि-भूमि का गुण विशेष है ,
देखे कोई आके ।

क्या जाने, क्या देख यहाँ पर
यह औत्सुक्य उमड़ता—
मानों अभी किसी झुरमुट से
वह है निकला पड़ता ।

सखा साथ में, वेणु हाथ में ,
ग्रीवा में वनमाला ;
केकि-किरीट, पीत-पट-भूषित ,
रज - रूषित लटवाला ।

द्विज-गण शान्ति-पाठ करते हैं ,
द्रुम कुसुमांजलि धारे ;
खड़ी दिग्वधू, लिये हेम-घट ,
अपना तन-मन वारे !

हुआ प्रफुल्लित सुख से मानों
दिन भी जाते - जाते ;
गायों के फोंचल, माँओं के
आँचल उमगे आते।

देखो जिधर उधर ही भूपर
फूल रही हरियाली ;
(पर, नागर नर छींटेगा ही
यहाँ रुधिर की लाली।)

प्रकृति-पुरुष की वत्सलता की
गद्गद नदी बही यह ;
नरव्याघ्र की रक्त-पिपासा
फिर भी बनी रही यह !

'सिंह कहीं क्या करते हैं ?'
दर्प पाप का कैसा ?
सोच, न जाने, मिला मुझे कल
किस कुलाप का पैसा।

जी सकते हैं देख, सर्प भी ,
होकर पवनाहारी ।
पर उनमें भी द्वेष-दम्भ है ,
विष, तेरी बलिहारी ।

पशु - पंछी अज्ञानी ठहरे ,
लगे, जो लगे करने ;
किन्तु ज्ञान पाकर भी उसका
किया निरादर नर ने ।

धरती पर जो पैर न धरते ,
मिले धूल में वे भी ,
उछले बहुत, परन्तु अन्त में
थे अकूल में वे भी ।

सौ से सबल, तथापि एक से
तुम भी अबल पड़ोगे ;
होगा क्या परिणाम, सोच लो ,
यदि तुम यहाँ लड़ोगे ।

तुम निर्माण नहीं कर सकते,
फिर क्यों नाश करोगे ?
जीने देकर जियो, मार कर,
क्या तुम नहीं मरोगे ?

बनो अग्निशर्मा - वर्मा तुम,
सुनो किन्तु अभिमानी,
जो है आग, आग ही है वह,
पानी है सो पानी।

कितना ही उत्ताप क्यों न दें,
उफना दें हम जल को,
किन्तु बुझा देगा स्वभाव से
शीतल सलिल अनल को।

मानिक धर्म समीर-धर्म है,
सभी साँस लें जिसमें;
मृदुता और प्रखरता दोनों
एक साथ हैं इसमें।

नन्द

नन्द लौट आया मथुरा से,
हे ईश्वर, क्या लेकर ?
यह सन्तोष—"देवकी का वह
कोष उसीको देकर।"

नहीं नहीं, दे सका कहाँ यह
लोलुप मन उस धन को ?
तब तो तम तकना पड़ता है
तस्कर ज्यों इस जन को।

यह गोकुल का ग्योंड़ा, गाड़ी
खड़ी क्यों रहे, जावे;
मेरी बाट यशोदा की टुक
आशा को अटकावे।

दिन जाने पर भी कुछ क्षण तक
अरुणाभा रहती है;
और एक आश्रय लेने को
यात्रा में कहती है।

तब तक मैं भी तनिक अकेला
रह कर जी भर रो लूँ,
मानस के जल से मुख धो लूँ,
कटि कस प्रस्तुत हो लूँ।

श्याम नहीं तो तनिक श्यामता
सन्ध्या में आ जावे,
ठीक किसीको यह जन, कोई
इसको देख न पावे।

अयि सन्ध्ये, ले आ वह मौना,
सहसा टूट पड़ेगी,
नहीं किरण वह रवि, आज तू
वह क्या यहीं रहेगी?

लौटा नहीं सरोज, भृङ्ग तो,
रख फिर भी संपुट तू;
तब तक उसका स्वप्न देख कर
कुमुद, मुदित हो स्फुट तू।

शून्य-गगन, तेरी गोदी को
अभी इन्दु भर देगा;
पर मेरी जीवन - संध्या का
तिमिर कौन हर लेगा?

कौन हूक उठ रही न जाने
यह मेरे गोकुल से,
उतरूँगा क्या पार हाय! मैं
इसी धुवें के पुल से!

आ गोधूलि, तुझे लूँगा मैं
अब भी इन पलकों पर;
किन्तु न बैठ सकेगी अब तू
उड़ कर उन अलकों पर।

तनिक आड़ में हो जाऊँ मैं ;
इस झाऊ में छुप कर ,
ताक रहीं बाँ बाँ कर गायें
इधर उधर, रुक रुक कर ।

बछड़ों के पीने में भी ये
दूध बढ़ा देती थीं ,
और हाय ! मेरे मोहन का
भाजन भर देती थीं ।

गई यशोदा की बेटी तो
क्या उसके विनिमय में ?
नन्द आज भी दे सकता है
सब कुछ उसके बदले में ?

सफल जन्म मेरी बेटी का ,
बनी विश्व की रानी ;
उसका भार नहीं माना था ,
मेरा वंश कुल-मानी ।

गोकुल की रक्षा कर उसको
ध्रुव गोलोक मिला है ;
धन्य मुझे गद्‌गद् करके ही
उसका शोक मिला है।

रोने लगी देवकी दुखिया
जब वह मुझसे भेटी—
"बेटा कैसे लूँ, लौटाये
बिना तुम्हारी बेटी ?"

मैं भी रोने लगा देख कर
उसकी दारुण बाधा—
"शुभे, शान्त हो, व्रज में बैठी
मेरी बेटी राधा।"

किन्तु वस्तुतः मैं बेटी को
आज विदा कर आया ;
पुत्र-रूप में ही राधा को
यहाँ नन्द ने पाया।

हा ! तथापि मुँह दिखलाऊँगा,
कैसे हम यहाँ मैं ?
गया खेल ही बिगड़, खिलौना
लेने गया जहाँ मैं ।

भड़गाती डोलेंगी गायें
बछड़ों से भी बिचकी ;
चुपक पड़ो उत्साहित होंगे
लेने को अब मिचको ?

आ बैठेंगे गृह पौर में ,
बालक नहीं छुड़ेंगे ;
इस विस्तृत आँगन के ऊपर
कंचन भाग उड़ेंगे !

हाय ! इसको लाकर इनमें
अब कोई न रहेगा ;
मिसरी तो कौटयो घुगनी :
माखन बिन्दु कहेगा ।

छिपा यशोदा के आँचल में
राधा का मुख होगा ;
फिर भी हरि को दुःख न हो कुछ ,
हमें यही सुख होगा ।

मिलो शावकों से विहंग, उड़
निज निज कोटर जाओ ;
मुझसे न कहो—"निशा निकट है ,
तुम भी तो घर जाओ ।"

यद्यपि मेरा हरि सुख-पूर्वक
बैठा राज - भवन में ,
फिर भी मेरे लिए आज क्या
है मेरे गृह - वन में ?

हे मधुवन के पवन, न पूछे
कोई मुझसे आकर ,
कह दे तू ही आज कृपा कर
सबसे यह जा जा कर—

नहीं किसीका, नहीं किसीका,
वह मेरा, वह मेरा;
केवल गोकुल ही उसका घर,
और जहाँ है, डेरा।

फिर भी मेरा गोकुल, मेरा
वृन्दावन अब ऊना;
मेरा यमुना-तट, वंशीवट,
दूर-निकट सब सूना।

मृग-तृष्णा सजनता मेरी,
फलफल-विफल विजनता।
एक तीसरा नन्द होता तो
मेरा कहना बनता!

कहते हैं इसको या उसको
किसी एक को चुन लो;
पर मेरा यह वहीं जहाँ वह,
सभी प्रेमसे—सुन लो।

चिबुक देख फिर चरण चूमने
चला चित्त चिर-चेरा ;
वे दो ओंठ न थे, राधे, था
एक फटा उर तेरा !

फिर भी उसके दन्त-हास में
मोती खो जावेंगे ;
उस नासा को निरख कुटिल भी
सीधे हो जावेंगे ।

देख लिया मैंने सहस्रदल
ले उस मुख की झाँकी ;
वृद्ध न होकर बाल बनी थी
पलट प्रौढ़ता बाँकी ।

उन काली आँखों में कैसी
उजली दृष्टि निहारी ;
जान पड़ा ब्रज-कुंज-विहारी
मुझको विश्व-विहारी ।

श्याम-रूप, हो न हो, राम ही
पुनः आप आया वह;
पर इस कंसपुरी में भी क्यों
नहीं चाप लाया वह?

हृदय सशंक हुआ पर आहा!
वंक भृकुटियाँ तीखी,
निज विलास में विश्व नचाती,
वंशीधर की दीखी।

मेरे मन की मूर्त्ति ढली थी
उसके साँचे में वह;
खेल रहा था नारायण ही
नर के ढाँचे में यह।

मोर-पंख भी मुकुट बना था
उसके अपनाने से;
फिर कुब्ज बन जाय हाय! पट
पीताम्बर पाने से!

धरती ही देखी थी मैंने,
पृष्ठ-भार से झुक कर;
अब ऊँची ग्रीवा कर सीधे
देखा नभ रुक रुक कर।

ओ हो! वही सुनील वर्ण था
उसी मदन-मोहन का;
एक पक्षिणी-तुल्य ठौर ही
बहुत वहाँ इस जन का।

हरा-भरा भूतल भी ऐसा
देखा मैंने कब था;
शस्यश्यामल वर्ण वहाँ भी
उसी श्याम का अब था।

अहा! उसीमें एक कुसुम-सा
यह जन भी खिल जावे;
मुझे और कुछ नहीं चाहिए,
बस इतना मिल जावे।

देखा मैंने, गंगा इसीके
रंग में निर्मल जल है;
अनल इसीकी आभा धारे,
अनिल गंध-गति-दल है।

एक तरंग, एक चिनगारी,
एक साँस मैं उसकी;
बजे वेणु उस नट नागर की,
एक बाँस मैं उसकी।

मेरा तत्त्व-तन्त्र तन्मय था,
किसे वंश का भय था?
लौट पड़ी मैं घर वालों हाँ,
जन जन को विस्मय था।

किन्तु मुझे निर्जन अभीष्ट था
चिन्तायें कुछ कम हैं;
अपने को भी देख सकी यों
मैं क्या किंचित कम है।

लेने नहीं, राज्य देने ही
वह विक्रान्त चला था ;
कंस मरा, पर उग्रसेन का
फिर भी भाग्य भला था ।

रोता देख वृद्ध नृप को वह
बोला—"नाना ! नाना !"
मिल वसुदेव-देवकी ने भी
भर पाया मनमाना ।

आने की न आप कहता तो
कुब्जा क्या राधा थी ;
मैं तो चेरी थी, जाने में
मुझे कौन बाधा थी ?

किन्तु आज आकुल है वन में
जैसी वह ब्रजरानी ;
दासी ने घर बैठे उसकी
मर्म - वेदना जानी ।

अथवा एक परस में ही जब
तरस रही मैं इतनी ;
होगी विकल न जाने तब वह
सदा-संगिनी कितनी ?

होती हाय ! आज कुब्जा ही
यदि राधा की दूती ;
आकर शरण इसी मिस तो मैं
अरुण चरण तो छूती ।

धन्य हुआ यह जिस बाधा पा,
इसे कहाँ ले जाऊँ ?
आवे यहीं, इसे अर्पण कर
परित्राण मैं पाऊँ ।

दे न सका यह बहु शरीर ही
हाय ! मोद भी ऐसा ;
काले कान्हा नहीं, चाहती
हूँ मैं कान्हा जैसा ।

आया नहीं विसासी अब भी
बस ये आँसू आये ;
अहा ! उसी लावण्य-सिन्धु का
रस ये आँसू लाये ।

पी पी कर मैं इन्हें, भाग्य को
अब भी कैसे कोसूँ ?
पर अजान इस आतुर उर को
कब तक पालूँ - पोसूँ ?

आई रात, हुआ चन्द्रोदय ,
मैंने यही विचारा—
वह शशि है, मैं निशि होऊँ या
वह तमिस्र, मैं तारा !

हुआ प्रभात और अरुणोदय ,
गूँजी उर की अलिनी ;
उसी पूर्व की फटती पौ में ,
उसी हंस की नलिनी ।

पंछी पहुँच निज नील गगन में,
मैंने पार न पाया,
ढुलक पड़ी मैं आप ओस-सी
हा! आधार न पाया।

रह सकता है बस यह पानी
उन्हीं नखों पर पद के;
किन्तु पधारे कहाँ चरण वे,
हूँ मैं जिनको पद के।

वह अंतर ही रहा, व्यर्थ ये
हार सजाये मैंने।
श्रुति-अतीत वह, क्यों इस तन के
तार बजाये मैंने?

क्यों धूप-दीप जलाये मैंने,
आगम-घोष न आया;
फिर भी अन्तर में तो गाया
वह नव-घन-मन-भाया।

स्नेह-हीन दीपक सो जावें,
सजग सजल लोचन तो;
फीके पड़ें सुमन, चिन्ता क्या,
अनुरंजित यह मन तो।

मेरा अतिथि देव आवे तो,
मैं सिर-माथे लूँगी,
उसने मुझको देह दिया, मैं
उसे प्राण भी दूँगी।

धड़क न वक्ष, कक्ष में है वह,
फड़क वाम-भुज मेरे;
मिले मिलन मय अन्त मुझे, तो
सफल सभी कृत मेरे।

रहें भ्रान्तियाँ, रहें श्रान्तियाँ,
रहें क्रान्तियाँ चाहे;
नटवर! तेरा नाट्य-ग्रन्थ निज
सन्धि-शान्ति निर्बाहे।

श्रान्त हो चुके, श्रान्ति मेट अब
आ, मैं व्यजन करूँगी ;
मोती न्योछावर करके, ये
श्रम-कण बीन धरूँगी ।

मेरा ही अधिकार यहाँ, सुन,
राधा रुष्ट न होगी ;
दासी को वंचित कर, तेरी
रानी तुष्ट न होगी ।

वह व्रजरानी भी नारी है,
यह सरला भी नारी ;
आत्म-समर्पण में दोनों जन
हैं समान अधिकारी ।

एक कुञ्ज में गोपिका ने
सदा किसे न मिलाया ;
पर मेरा सौभाग्य निराला ,
तूने आप जिलाया ।

कूबड़ न था, कुंडली पकड़े—
जकड़े मुझे पड़ा था ;
तूने कौन मंत्र फूँका, वह
उठ हट दूर खड़ा था।

किन्तु विरह-वृश्चिक ने आकर
अब यह मुझको घेरा ;
गुणी-गारुड़िक, दूर खड़ा तू
कौतुक देख न मेरा।

तू न आज भी आवेगा तो
मैं ही कल जाऊँगी ;
कुछ न सही तो कुटिल भृकुटि तो
तेरी मैं पाऊँगी।

यही कहेगा न तू—"अधीरे,
निकली तू चेरी ही !"
हाँ हाँ, मैं चेरी, मैं चेरी,
तेरी ही, तेरी ही।

गड़े हुए धन-सा, मन में ही
रक्खूँ क्या मैं तुमको;
तो यह मेरा तन क्यों तूने
दिया बना कर मुझको ?

रोम रोम बस तुझे पुलक-सा
पा कर जड़ रह जावे;
और उन्हीं चरणों में जीवन
स्वेद बना बह जावे।

पल पल में तेरी आहट
चौंकाती आती है;
किन्तु प्रतीक्षा में ही वेला,
बीत बीत जाती है।

निद्रा मेरा स्वप्न ले गई,
अरे माधव, अब आ जा;
जाग रही हूँ स्वागतार्थ मैं,
ओ नागों के राजा !

कूबड़ न था, कुंडली पकड़े—
जकड़े मुझे पड़ा था;
तूने कौन मंत्र फूँका, वह
उठ हट दूर खड़ा था।

किन्तु विरह-वृश्चिक ने आकर
अब यह मुझको घेरा;
गुणी-गारुड़िक, दूर खड़ा तू
कौतुक देख न मेरा।

तू न आज भी आवेगा तो
मैं ही चल जाऊँगी;
कुछ न सही तो कुटिल भृकुटि तो
तेरी मैं पाऊँगी।

यही कहेगा न तू—"अधीरे,
निकली तू चेरी ही!"
हाँ हाँ, मैं चेरी, मैं चेरी,
तेरी ही, तेरी ही।

गद्‌गद्‌ हुए घन-सा, मन में ही
रक्खूँ क्या मैं तुमको ;
तो यह मेरा मन क्यों तूने
दिया बना कर मुझको ?

रोम रोम बस तुझे पुलक-सा
पा कर लहर रह जाये ;
और उन्हीं चरणों में जीवन
स्वेद बना बह जाये ।

पग पग में तेरी आहट
चौंकाती आती है ;
किन्तु प्रतीक्षा में ही बेला ,
बीत बीत जाती है ।

निद्रा मेरा स्वप्न ले गई ,
अरे सत्य, अब आ जा ;
आज यहीं हूँ स्वागतार्थ मैं ,
ओ नाथों के नाथा !

अहोरात्र के पंख लगा कर
सुध-सी उड़ती हूँ मैं;
तुमसे मिलने का अपने से
आप बिछुड़ती हूँ मैं।

और बड़ा कौतुक तो यह, तू
यहीं कहीं बैठा है;
ओ कठोर, कह किस कोठे में
तू घुस कर पैठा है?

तेरी व्यथा बिना सुन, मेरी
कथा न पूरी होगी;
तू चाहे जिसका योगी हो,
मेरा क्षणिक वियोगी।

तेरे जन अगणित, परन्तु मैं
एक विजनता तेरी;
बस इतनी ही मति है मेरी,
इतनी ही गति मेरी।

उद्धव

१

(यशोदा के प्रति)

अम्ब यशोदे, रोती है तू ?
गर्व क्यों नहीं करती ?
भरी भरी फिरती है तेरे
अंचल-धन से धरती ।

अब शिशु नहीं, सयाना है वह,
पर तू यह जाने क्या ?
आया है वह मेरी माखन-
मिसरी ही खाने क्या ?

खेल-खिलौने के दिन उसके
बीत गये वे मैया ;
यही भला, निज कार्य करे अब
तेरा कुँवर - कन्हैया ।

काल-फणी निकला परन्तु वह ,
जिसने सूँड़ न छोड़ी ;
तोड़ उसीका दाँत निठुर ने
क्या गज-मुक्ता फोड़ी !

माँ, तुझको किसकी चिन्ता है ,
अच्युत है सुत तेरा ;
प्रेम पाप-शंकी हो फिर भी
मन श्रद्धायुत तेरा ।

पर सब कुछ प्रत्यक्ष यहाँ तो ,
और श्रद्धा प्रत्यय क्या ?
चुटकी में ही उड़ा कंस का
राजरोग, अब भय क्या ?

उसे खिलाया और पिलाया ,
तूने जितना, जैसा ,
गिन सकना भी उसे कठिन है ,
भला चुकाना कैसा ?

पर संसार-समक्ष उसे क्या
स्वीकृत भी न करे वह ?
धनी धनी क्या, यदि अपना धन
केवल गाड़ धरे वह ?

तेरे ग्रन्थ के रोम रोम में
वह छवि सदा समाई,
अब अपने गोपाल-बाल की
तू कुछ देख कमाई।

कहो, यह क्षार-नीर या उसकी
यशःसुधा चक्खेगी ?
अपने दृग के मटकों तक ही
क्या उसको रक्खेगी ?

निकला है जिस प्रण को लेकर
वह तेरा वनमाली,
पूरा किये बिना, पर कैसे
लौटे वह व्रतशाली ?

तेरा रोदन वहाँ गूँज कर
बाधा-विघ्न न डाले,
मंगल मना यहाँ तू, सुख से
स्वकर्तव्य वह पाले।

मैं भविष्य में भी सुनता हूँ
यही टेक मन-भाई—
"दूध-पूत पाया तो तूने,
धन्य यशोदा माई!"

दुखा देवकी को न हाय! तू,
धाय न बन माँ होकर;
तेरा ही पाया है उसने,
अपना फिर फिर खोकर।

हरि जब कारागृह में पहुँचा
तब सुख में या दुख में,
क्षण भर, हाय बढ़ा कर भी वह
कह न सकी कुछ मुख से।

बोल सकी तब—"बहिन यशोदे,
यह तेरा-यह तेरा!
मुझसे तो इस भाई ने भी
आज यहाँ मुँह फेरा!"
"यह इस दुखिया को दुलरावे।"
हाँ, यह मेरी बाणी;
अम्ब, यही तो तुमसे सुनने
आया था यह प्राणी।

अहा! तेरा वृन्दावन का
मन तो-ऐसा पाला;
जब चाहूँ तब हूँ यहाँ मैं,
मुझको तेरा न्यारा।

किसको मेरे हित आज का
जीवन-भोग न भावे?
जिस दुख-धृति-मकरन्द तेरा
इसे पहुँचा जावे।

अब भी तेरी यमुना उसके
　　　　वातायन के नीचे ;
विस्मय क्या यदि रत्नाकर भी
　　　　उसे भक्ति से खींचे।

रहती हो निश्चिन्त कभी तू
　　　　उसे निकटतर पाकर
किन्तु रहेगी लीन उसीमें
　　　　अब ध्रुव ध्यान लगा·

हुए निकटतम हो तुम मन से ,
　　　　रहो कहीं भी त
तेरा परमात्मीय तुझीमें
　　　　देख आत्म-द

२

(गोपियों के प्रति)

अहा ! गोपियों की यह गोष्ठी ,
वर्षा की ऊषा-सी ;
व्यस्त-सम्भ्रम [illegible] दौड़ की
[illegible]-सी ।
स्खलित ललित भूषा-सी ।

इस पर भी मन मौन रही हो ,
उस भ्रमशीला स्मृति-सी ;
एक अतर्कित स्वप्न देखकर
चकित चौंकती धृति-सी ।

हा ! होकर भी हुई न पूरी ,
ऐसी अभिलाषा-सी ;
कुछ रुकती आशा-सी, भटकी
भावुक की भाषा-सी ।

अधरा अचला-सी, जिससे हो
रस-चञ्चलता चूती;
कठिन मानकी हठ समाप्ति-सी,
खोज रही जो कूती।

उस उत्कंठा-सी, जो क्षण-क्षण
चौंक उठे चकी-सी;
खुल कर भी जो सुलझ न पाई,
उस उलझी वेणी-सी।

जल-वारि-लहरी-सी जिसको
कौतुक वायु हिलोदे,
उस निमग्नता-सी, जो अपना
मद पावे, सब खो दे!

वृन्दावन की ही माधुरी-सी,
संध्या की गोधूली,
जिसका मिला हुआ अन्तर्हित,
सहसा खोई खोई।

सत्य-धर्म-रक्षा हो जिससे ,
ऐसी मर्म मृषा - सी ;
कलश कूप में, पाश हाथ में ,
ऐसी भ्रान्त तृषा-सी !

उस थकान-सी, ठीक मध्य में
जो पथ के आई हो ;
कूद गये मृग की हरिणी-सी ,
जो न कूद पाई हो ।

तिमिर देखती उस यात्रा-सी ,
जो संध्या की भूली ,
नहीं समाती हुई साँस-सी ;
जो असमय उठ फूली ।

बालक की फल चेष्टा-सी, जो
पा न सके, पर लपके ;
उस जलती भट्टी-सी जिसमें
पड़ पड़ मदिरा टपके ।

अथवा अपलता-सी, जिसने हो
रस - चञ्चलता पूछी ;
कठिन मानकी हठ समाप्ति-सी ,
खोज रही जो दूती ।

उस उत्कंठा-सी, जो क्षण-क्षण
चौंक उठे पगी-सी ;
खुल कर भी जो सुलझ न पाई ,
उस उलझी वेणी-सी ।

दल-धारि-शाली-सी जिसको
कौतुक वायु पिरोदे ,
उस निरलसता-सी, जो अपना
मन पावे, सब खोदे ।

वृन्दावन की ही वंशी-सी ,
कृष्ण की अनुरागी ,
जिसका विरह हुआ अन्तर्हित ,
सहसा चोरी चोरी ।

सुरांगना-सी, तपोभंग की
ठान चली, जो मन में ;
किन्तु तपोवन के प्रभाव से
लगी स्वयं साधन में !

उदय-दुःख में हत-ईर्ष्या-सी ;
विश्व-व्याप्त समता-सी ,
जिसको अपना मोह न हो, उस
मूर्तिमती ममता-सी ।

लिखा गया जिसमें विशेष कुछ ,
ऐसी लोहित मसि-सी ;
किसी छुरी के क्षुद्र म्यान में
ठूंस दी गई असि-सी ।

समुत्थिता होकर भी अलि को
धर न सकी नलिनी-सी ;
अथवा शून्य-वृन्त पर उड़ कर
मँडराई अलिनी-सी ।

पिक-रव सुनने को उत्कर्णा
मधुपर्णा ललिता-सी,
प्रोषितपतिका पूर्वस्मृति में
रत आगतपतिका-सी।

जो सबको देखे, पर निज को
भूल जाय उस मति-सी;
अपने परमात्मा से बिछुड़े
जीवात्मा की गति-सी!

चन्द्रोदय की बाट जोहती
तिमिर-तार-बाला-सी;
एक एक व्रज-बाला बैठी
जागरूक ज्वाला-सी!

अरी प्रीति की मूर्ति, जगत में
जीवन धन्य तुम्हारा;
धर न सका अनुराग कठिन कर
कोई अन्य तुम्हारा।

चपल इन्द्रियों को भी तुमने
तन्मय बना दिया है;
पावन हुआ पाप भी जिसमें,
वह पथ जना दिया है।

धन्य दूरता ही प्रिय की, जो
और निकट ले आवे;
चर्म-चक्षुओं के बदले वह
आत्मा उसको पावे।

प्राप्य अन्ततः वह परमात्मा
आत्मा ही के द्वारा;
मिथ्या माया का प्रपंच है
दृश्यमान यह सारा।

एक एक गुण सब गाता हो,
कहाँ तुम्हारी गाथा?
नहीं सीमा तो तुम्हें कहाँ तक,
हो कौन-सी यात्रा?

गोपी

सच कहता हूँ, मैंने अपना
राम तुम्हीं में पाया,
किन्तु तुम्हारा कृष्ण कहाँ, मैं
यही पूछने आया।

गोपी

राधा का प्रणाम तुमसे हो,
श्याम-सखे, तुम ज्ञानी;
ज्ञान भूल, बन बैठा उसका
रोम-रोम ध्रुव-ध्यानी।

न तो आज कुछ कहती है वह
और न कुछ सुनती है;
अन्तर्यामी ही वह जाने,
क्या गुनती-गुनती है।

कर सकती तो करती तुमसे
प्रश्न आप वह ऐसे—
"सखे, लौट आये गोकुल से ?
कहो, राधिका कैसे ?"

राधा हरि बन गई, हाय ! यदि
हरि राधा बन पाते,
तो उद्धव, मधु वन से उलटे
तुम मधुपुर ही जाते।

अभी विलोक एक अलि उड़ता,
उसने चौंक कहा था—
"सखि, वह आया, इस कलिका में
क्या कुछ शेष रहा था ?"

पर तत्क्षण ही गरज उठी वह,
भौंह चढ़ा कर बाँकी—
"सावधान अलि ! हट कर लेना
तू प्यारी की झाँकी !"

आत्मज्ञान-हीन वह मुग्धा,
वही ज्ञान तुम लाये;
धन्यवाद है, बड़ी कृपा की,
कष्ट उठा कर आये।

पर वह भूली रहे आपको,
उसको सुध न दिलाना,
होगा कठिन अन्यथा उसका
जीना और जिलाना!

दूबी-सी वह बीच-बीच में
पलक खोल कर आधे,
चिल्ला उठती है बिलोल-सी
बोल—"राधिके, राधे!"

ज्ञान-योग से हमें हमारा
यही वियोग भला है,
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण,
नाट्य, कवित्व, कला है।

सचमुच ही हम देख रहीं थी
जगते - जगते सपना ;
जहाँ रहे बस सुखी रहे वह ,
दुःख हमारा अपना ।
यौवन-सा शैशव था उसका ,
यौवन का क्या कहना ?
कुब्जा से विनती कर देना—
"उसे देखती रहना !"

कृपया वचन न मन में रखना
तुम अन्यान्य हमारे ;
प्रिय के बन्धु, अतिथि हो उद्धव ,
तुम सम्मान्य हमारे ।
विवशों का मन, वाणी को भी
व्याकुल कर देता है ;
आर्त्तों का आक्रोश ईश भी
सुन कर सह लेता है ।

ज्ञानी हो तुम, किन्तु भाग्य तो
अपना अपना होता ;
बच्चा भी क्या करे, न पावे
यदि अधिकारी होता ?

हम अपने को जान न पाईं,
तुमको क्या जानेंगी ;
मन की बात मानती आईं,
मन की ही मानेंगी ।

निर्गुण निपट निरीह आप हम,
हमीं रूप गुन मागें ;
निराकार हो निराकार में
आप हमारे आगे !

राधा के अनुरूप योग की
कोई ज्ञान सुनावे ;
उद्धव, हाय ! गोपियों को
गुन हरि न सुनावें ।

कोटि कमल फूटे, कमलों पर
आ आकर अलि टूटे ;
चित्रपतंग विचित्र पटों की
प्रतिकृति लेने छूटे ;

पात-पात में फूल और थे
डाल-डाल में भूले ;
वन की रँग-रलियों में हम सब
घर की गलियाँ भूले !

नई तरंगे थीं यमुना में,
नई उमंगें व्रज में ;
तीन लोक-से दीख रहे थे
लोट-पोट इस रज में।

ऊपर घटा घिरी थी, नीचे
पुलक कदम्ब खिले थे ;
झूम-झूम रस की रिम-झिम में
दोनों हिले-मिले थे !

सच था नहीं, जैसा-का ही
आया श्याम सही था ;
सारा था विश्वास सभी कुछ ,
पर वो और सही था !

किन्तु सदा उजियाले-सा पद ,
उलटा हुआ यहाँ है ;
देश-राष्ट्र सब अड़े खड़े हैं ,
गांधी किन्तु कहाँ है ?

अंतर-निशीथों में वह आगा ,
उसने पलक न पाया ;
देह हुई जो पावन राख में
घर घर बीच समाया ।

हँसा किन्तु मेरी चिन्ता पर ,
धू धू कर सुलगाया ;
मेरे मन के साथ लिपट ही
दुखवा पगा दबाया !

उद्धव, वे दिन भूलेंगे क्या,
तुम्हीं बता दो, कैसे ?
संकट भी जब हुए हमारे
क्रीड़ा - कौतुक जैसे !

चन्द्र हमारे हाथ, राहु भी
बीच - बीच में झपटे ;
पर रस-पिच्छल था यह भूतल,
अरि औंधे मुहँ रपटे ।

उद्धव, अब आये इस वन में,
सूखा जब सोता है,
सुनो, वही कोकिल अब कैसा
ऊ ऊ कर रोता है ।

रह रह एक हूक उठती है,
हृदय टूक होता है ;
समा सकी वह मूर्ति न इसमें,
भग्न धैर्य खोता है ।

मृग, मृगियाँ, मृग-शावक, नागो,
अब भी यहाँ मिलेंगे ;
पर उस नृपप-कुलनागर के
दर्शन कहाँ मिलेंगे ?

सुन कर उसका मृदु-मन-रव
कौन न सुध-बुध भूला ?—
गड़ जाता न फूल भी, जल-सा
था फूला का फूला !

आता था जो जब आगे सुन,
तब यमुना लहराती ;
अब तो बरसाती जाती है,
देखो यह इतराती !

कहती है हम दूर स्याम को,
कौन करे कल-मोहने,
लाकर एक अनन्य राम-सा,
मधा सरल-सा मोहन !

सचमुच ही क्या स्वप्न मात्र था ,
जो हमने देखा, वह ?
किस समाधि, किस नियम और किस
शम-दम ने देखा वह ?
उसे महानिद्रा लेकर भी
एक वार फिर देखें,
अन्त बने या बिगड़े, तब भी
हम भर पाया लेखें।
उद्धव, कहो नहीं लौटा क्यों
हाय ! हमारा राजा ?
बजा यहाँ उसके विरुद्ध था
क्या विप्लव का बाजा ?
सिर-माथे ही उस मनोज्ञ को
हमने यहाँ लिया था ;
लोक और परलोक, सभी कुछ
अपना सौंप दिया था ।

उसका सगुन साधने को हम
शिरोभार सहती थीं।
भरे भरे घट पथ में कब तक
नित्य खड़ी रहती थीं।

कर देना कैसा, अन्तर तक
हमने वार दिया है;
नित्य नया मन-मोदक लेकर
उसको भेंट किया है।

गोवर्द्धन-गढ़ खड़ा आज भी,
जो न इन्द्र से टूटा;
फिर भी चला गया वह गढ़पति,
आप हमारा छूटा।

रे विहंग, लौट आ, मेरा
नीड़ यहाँ इस वन में;
छोड़ कल्प वट की डाल पर,
कहाँ फिर शून्य गगन में?

वेद-मार्गियों में आ पहुँचा,
यह निर्वेद कहाँ से ?
लौटा ले जाओ हे उद्धव,
लाये इसे जहाँ से।

हम सौ वर्ष जियेंगी, अपनी
आशा लेकर उर में,
वह प्रसन्नता से प्रमोदरत
रहे प्रतिष्ठित पुर में।

हो या न हो सुनो हे साधो,
योगक्षेम हमारा;
बना रहे उस निर्मोही पर,
है जो प्रेम हमारा।

लाख ठगावें, किन्तु सरलता
रहे साख-सी हममें,
लाख ठगें, पर कुटिल कुटिल ही,
रहें न केशव भ्रम में।

जैसे चातकी मेघ-वृष्टि में,
शुक्ति स्वाति-रस-सानी;
एक प्रीति की लता चाहती
दो आँखों का पानी!

आशा फूल, निराशा फल है,
इतनी मूल कहानी,
फिर भी हा! इस कृष्ण-हृदय की
रही राधिका रानी!

दूर रहे कोई राधा का धन,
पर वह भाग्य यशोदा;
कृष्ण यशोदा केश-वस्त्र है,
सेंदुर राग यशोदा!

जिसे ... कृष्ण-कुञ्ज मिल जाते
निद्रा कदंब-कुंजों में:
मेरी जाग समूचि यही तुम
वंशी-वाद-कुंजों में!

हा ! कैसे विश्वास करें हम
उसकी इन बातों का ?
अविश्वास किस भाँति करें हा !
उद्धव की बातों का ?

माधव भी सच्चे हैं सखियो ,
उद्धव भी सच्चे हैं ;
हाय ! हमारे आँख-कान ही
झूठे हैं, कच्चे हैं !

योग-वियोग हो चुके उद्धव ,
चलें सन्धि-विग्रह अब
रस की लूट हुई मनमानी ,
पलें नियम-निग्रह अब ।

मुरली तो बज चुकी बहुत, अब ,
शंख फुँकेंगे सीधे ,
दूर मयूर, पलेंगे रण में
गीध गुणों के गीधे !

राधा जब तक है अभिमानी,
करें कृष्ण मनमानी;
इनमें अहंभाव जो आवे
भरें न आकर पानी।
चरणों में न पड़ें तो कहना
मुकुट - रत्न - मालाएँ;
एक यही आशा लेकर है
बैठी व्रजबालाएँ।
मथुरा क्या, आजन्म धरा की
धूल छान डाले थे;
राधा-सा जन-रत्न धरा भी,
तब जानें, पा ले वे।
जो पकड़कर लाएँगे आकर,
[illegible] वह योगी;
[illegible]
[illegible] कीर्ति-किशोरी।

११

आँगन लीप देहली को जब
पूजा करने आती,
जल, अक्षत, या फूल चढ़ा कर
गुन गुन कर कुछ गाती।
मत्था टेक अन्त में जब तू
मग्न वहाँ हो जाती,
तब न समाकर ऋद्धि जगत में
कहाँ ठौर है पाती ?
आग्रह छोड़ वहाँ जाने का,
वह है यहीं, हृदय में,
विघ्न बनूँ कैसे मैं जाकर
उसके लीलालय में ?
अपनी ही चिन्ताओं से तू
चैन नहीं लेती है।
जिस पर है भू-भार उसीके
घर धरना देती है ?

लेता हूँ कुछ से मैं अपने
असन-वसन की भिक्षा,
देता हूँ कुछ को मैं उनकं
धर्म-कर्म की शिक्षा।

है आदानप्रदान यही तो
दोनों को हितकारी,
बँटे हुए हैं कर्म हमारे;
पड़े न जिसमें भारी।

अपने लिए नहीं, तू मेरे
लिए व्यथा पाती है।
इसीलिए तेरा रोना सुन
मुझे हँसी आती है।

पगली, कभी मुखापेक्षी है
सच्चा सुख यदि धन का,
तो इससे अपमान बड़ा क्या
होगा जन-जीवन का ?

गेह बड़ा हो, किन्तु देह तो
यही रहेगी तेरी,
छप्पन भोग भोग कर भी क्या
भूख भगेगी मेरी ?

देता है मिट्टी का घट तो
मुझको ठण्डा पानी,
पर सोने का पात्र चाहती
तू दरिद्र की रानी !

सोना पाकर भी क्या सुख में
तू सोने पावेगी ?
बढ़ती हुई लालसा तुझको
कहाँ न ले जावेगी !

काम, क्रोध, मद, मोह सभी पर,
लोभ सदैव सभी का !
कर्मों के अनुसार किन्तु है
देता दैव सभी को।

जो कदम्ब के तले भीगता,
प्रासादों में बैठा,
जो गोपों के संग विचरता,
परिषद् में है पैठा।

जो वत्सों के संग खेलता,
उद्धव का है संगी,
छजते हैं सब वेश उसे, वह
बहु-रूपी, बहु-रंगी!

तनिक छाँछ में जिसे गोपियाँ
नाच नचाया करतीं,
राजनीतियाँ आ उसके घर
अब हैं पानी भरतीं।

मुरली नहीं, आज है शासन-
चक्र हाथ में उसके,
तू ही बता, निभूँगा कैसे
वहाँ साथ में उसके?

चिन्ता न कर, कहीं भी हो वह,
पर वह वही नहीं है,
बाहर तेज, किन्तु भीतर तो
करुणा उमड़ रही है।

ऊपर विद्युज्ज्योति जागती,
आडम्बर भी भारी,
किन्तु सजल निज घनश्याम की
बार बार बलिहारी !

ओ यमुने, भूला क्या तुझको
वह नागरनटनागो ?
कहा कौन से दह में नट
नाग निगुरा नाथो ?

उसे नाथ कर कहाँ उसने
किया [illegible] में,
कहाँ कौन-सा [illegible], कह यह,
[illegible] में ?

किन्तु मिलूँगा कैसे उससे
रिक्तपाणि, कल्याणी,
दे न सकेगी शुभाशीष भी
मेरी गद्गद वाणी।
तदपि जानता है वह जी की,
बहुत चार चावल ही।
मेरी भेंट अल्प क्या उसको
पत्र-पुष्प-फल-जल ही?

साकेत	
शकुन्तला	१)
यशोधरा	१॥)
द्वापर	२)
सिद्धराज	१)
भारत-भारती	१॥)
जयद्रथ-वध	॥)
झंकार	॥=)
पत्रावली	।-)
बक-संहार	।=)
वन-वैभव	।=)
सैरन्ध्री	।=)
[illegible]	।-)

[illegible]

मैथिलीशरण